TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_180886
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H81.09/C49H Accession No G H. 658

Author चतुर्वेदी परशुराम।

Title हिन्दी-काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह। 1952.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-काव्यधारा में

प्रेम-प्रवाह

●

परशुराम चतुर्वेदी, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०

किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५२
(संवत् २००९)

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद
मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रस्तावना

आज से लगभग पंद्रह वर्ष पहले मैंने 'बलिया-हिंदी-प्रचारिणी सभा' की साहित्य-गोष्ठी में एक लेख पढ़ा था जिसका शीर्षक 'हिंदी कविता में प्रेम-प्रवाह' था और उसके लिए मैंने बहुत से अवतरण एकत्र किये थे। लेख का विषय उस समय इतना रुचिकर और मनोरंजक सिद्ध हुआ कि गोष्ठी के सदस्यों ने इस पर अपने विचारों का आदान-प्रदान उसकी चार बैठकों में किया और हिंदी-कवियों की प्रतिभा, उनके भाव-गांभीर्य एवं काव्य कौशल की सराहना भी की। प्रस्तुत पुस्तक वस्तुतः उसी लेख की सामग्री के आधार पर लिखी गई है और वर्ण्य विषय का प्रतिपादन भी अधिकतर उसीकी शैली में किया गया है। ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं जहाँ पर यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्त्तन किये गए हों और जो बातें नयी जोड़ी गई हैं वे भी केवल इसके अंत में ही आई हैं।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है और प्रत्येक बात की व्याख्या इस समय किसी न किसी वैज्ञानिक ढंग से ही की जाती है। फलतः, सत्य, शील, सौंदर्य तथा औदार्य प्रभृति मानवीय गुणों की ही भाँति प्रेम भी विज्ञान-वेत्ताओं के अन्वेषण का एक प्रधान विषय बन चुका है और उन्होंने इसके संबंध में अपने-अपने विचार भी प्रकट किये हैं। मनोविज्ञान के पंडितों ने जहाँ इसे किसी आदिम सहज प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है और उनमें से कुछ ने इसे केवल कामवासना का अन्यतम रूप तक माना है वहाँ समाज-विज्ञान के अनुसार यह सामाजिक संबंधों का एक आवेशात्मक (Emotional) अंग मात्र समझा जाता है और कहा जाता है कि इसका विकास

मानव समाज के विकास पर ही निर्भर है। इसी प्रकार जीव-विज्ञान वालों का कहना है कि प्रेम का मूल तत्त्व स्वयं भौतिक पदार्थ (Matter) में ही निहित है और वही समय पाकर आगे यौन संबंध में परिणत हो जाता है, एक नवीन एवं विकसित रूप ग्रहण कर लेता है। भौतिक सिद्धांतों के अनुसार प्रेम एक प्रकार की शारीरिक भूख है जिसकी अनुभूति प्रत्येक अंग को हुआ करती है और जिसकी तृप्ति भी भौतिक नियमों पर ही निर्भर है। अतएव प्रेम का विषय इस समय उतना रहस्यमय नहीं रह गया है जितना यह कभी पहले समझा जाता था। इसका वह प्रत्येक आकर्षक गुण जिसने इसे कभी एक रोमानी महत्त्व प्रदान किया था अब क्रमशः लुप्त होता जा रहा है और जैसा कि स्व० काडवेल का अनुमान है, यह फिर कभी कदाचित् उस रूप को ही ग्रहण कर लेगा जो आदिम यौन संबंध का आधार था।[१]

इसमें संदेह नहीं कि प्रेमभाव का स्वरूप सदा एक ही प्रकार का नहीं रहा है। विश्व की प्रारंभिक दशा में इसका रूप चाहे जैसा भी रहा हो, मानव-समाज के विकास के साथ-साथ इसमें परिवर्त्तन अवश्य होते गए हैं। उपलब्ध साहित्यिक सामग्री के अनुसार कहा जा सकता है कि इतिहास के आदिकाल में यह अत्यंत शुद्ध, सरल एवं स्वाभाविक था और इसके आधार का क्षेत्र भी अधिकतर यौन संबंध अथवा पारिवारिक लगावों तक ही सीमित रहा। परंतु मध्ययुग की विभिन्न परिस्थितियों ने इसे पीछे बहुत प्रभावित कर दिया और उस काल के सामंती वातावरण एवं धार्मिक आंदोलनों ने इसमें ऐसा परिवर्त्तन कर दिया कि एक ओर जहां इसका रूप रोमानी बन गया वहां दूसरी ओर वह अलौकिक-सा भी दीख पड़ने लगा। इसी प्रकार आधुनिक युग की वैज्ञानिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्रांतियों

---

[१] Studies in a Dying Culture by Christopher Caudwell, (Current Book Distributors), p. 91.

ने मानव-समाज की दशा में उलट-फेर ला दिया है। जैसे-जैसे एक राष्ट्र के लिए दूसरे के संपर्क में आने के साधन उपस्थित होते जा रहे हैं और वह उसके साथ कोई न कोई संबंध स्थापित करता जा रहा है, प्रेम के क्षेत्र के अधिकाधिक व्यापक होते जाने की संभावना भी बढ़ती जा रही है। अतएव केवल दम्पति वा परिवार तक ही सीमित रहने वाला रागात्मक संबंध जातीय, अंतर्जातीय से लेकर मानवीय तक बन जा सकता है। फिर भी इस आधुनिक क्षेत्र विस्तार ने प्रेम के मध्ययुगीन गहरे रंग को बहुत कुछ फीका कर देना भी आरम्भ किया है और इसके रूप में आज वह चमत्कारिक आकर्षण नहीं दीख पड़ता जो कभी उक्त काल की एक विशेषता बना हुआ था। स्व० काडवेल ने जो परिणाम इस स्थिति के अध्ययन में निकाला है वह उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार हो सकता है। किंतु वह नैराश्यजनक भी है और हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वही विकासवादी सिद्धांतों के भी सर्वथा अनुकूल ठहरेगा।

हिंदी-काव्य की रचना का आरम्भ भारतीय इतिहास के मध्ययुग में हुआ था। उस समय सामंती परंपरा का प्रचार था और धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात भी क्रमशः होता जा रहा था। मध्यम वर्ग के लोग अधिकतर इन्हीं दो प्रकार की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित थे जिस कारण उनकी रचनाओं में हमें उसीके अनुसार उदाहरण भी मिलते हैं। आदियुगीन वा प्राचीन प्रवृत्तियों के जो अवशेष चिह्न हमें उपलब्ध है वे केवल लोक-गीतों जैसी रचनाओं में ही मिलते है। लोकगीतों की यह एक विशेषता रही है कि, उनके कम से कम प्रारंभिक मध्ययुगीन रूप में, हमें केवल ऐसे प्रेमी एवं प्रेमिका की कहानियां मिलती है जो या तो विवाहित थे अथवा जिनका वैवाहिक संबंध पीछे चल कर हो गया। दोनों किसी एक परिवार के अंग हुआ करते हैं और उनका वियोग चिरस्थायी नहीं होता, अपितु कथा का अंत संयोग से ही होता है। इसके सिवाय उनका प्रेम उक्त प्रकार से

मर्यादित रहता हुआ भी सदा विशुद्ध और वृद्धिशील भी बना रहता है। उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति उनकी गहरी अनुभूति एवं अकृत्रिम कथन-शैली का परिचय देती है और श्रोता के अंतस्तल तक को स्पर्श कर जाती है। ऐसे लोकगीतों में हमें न केवल भावसाम्य मिला करता है, अपितु बोलियों की विभिन्नता में भी उक्ति सादृश्य पाया जाता है।

राजस्थान प्रदेश का एक लोकगीत 'पणिहारी' नाम से प्रसिद्ध है जो उधर बहुत ही लोकप्रिय है। उसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह समझी जाती है कि प्रेमिका रमणी का पति परदेशी है जो बहुत दिनों पर अपने घर वापस आता है। संयोगवश वह गांव के बाहर तालाब पर पानी लाने गई रहती है जहां उसका पति उसे देख कर पहचान लेता है, किंतु वह उसे नहीं पहचान पाती और उसे एक साधारण बटोही समझ कर उससे अपना घड़ा सिर पर उठा देने का अनुरोध करती है। उसका पति इस पर उसके साथ, एक पर पुरुष की भांति, छेड़खानी आरंभ कर देता है और वह बिगड़ती हुई घर वापस आती है जहां, अंत में, दोनों आपस में मिलते हैं। चंपारन जिले (बिहार प्रांत) की भोजपुरी बोली में भी एक इसी ढंग का 'रोपनी' का गीत गाया जाता है। यहां पर भी तालाब पर गई हुई पत्नी का परदेशी पति अपने लंबे प्रवास के अनंतर लौटता है। वह उसे पहचान लेता है, किंतु उसकी पत्नी उसे नहीं पहचान पाती और दोनों में लगभग उसी प्रकार की बातचीत होती है जैसी 'पणिहारी' वाले लोकगीत में। अंतर केवल यही प्रतीत होता है कि 'पणिहारी' वाला गीत कुछ अधिक स्पष्ट, विस्तृत और सुव्यवस्थित है। भोजपुरी में जहां पति केवल इतना ही कह कर आरंभ करता है—

'गोरी बता देहु सागर घाट, नएनवा से नीर ढरी'

अर्थात् गोरी, मुझे तालाब का घाट तो बतला दो। तुम्हारे नेत्रों से ये आंसू क्यों ढल रहे हैं? और उसके संकेतों पर वह कहने लगती है,

जाना होय तो जाहु बटोही ए नएना जनि भूल।
जेकर हुई वार बिअहुआ, सेकरा पांव के धूर।[1]

अर्थात् 'ओ बटोही' तुम्हे जाना है तो जाओ, व्यर्थ इन मेरे नेत्रो के फेर मे मत पडो। मै जिसके साथ अपने बालपन से ब्याही हू उसीके चरणो की धूल हू', वहा राजस्थानी मे पणिहारी का पति पूछने लगता है—

औरां रे काजल टीकियां, ए पणिहारी एलो,
थारोडा ह फीका नण वालाजो।
औरां रे औढण चूनड़ी, ए पणिहारी एलो,
थारोड़ो मैलो सो बेस, वालाजो।
के हैं रे सासू थारे सावकी, ए पणिहारी लो
के थारो पीवरियो परदेस, वालाजो।[2]

अर्थात् औरो की आखो मे काजल है और भाल पर लाल बिन्दी है, किंतु तुम्हारे नेत्र फीके क्यो है? अन्य युवतियो ने 'चूनडी' ओढ रखी है और तुम्हारा वेश मैला है, इसका क्या कारण है? क्या तुम्हारी सास तुम्हारे श्वसुर की दूसरी है या तुम्हारा पीहर दूर देश मे है? और उससे यहा तक कह डालता है कि अरी नवयुवती पनिहारिन तू अपने घडे को इस तालाब मे फेक दे और मेरे साथ चली आ। इस प्रस्ताव के उत्तर मे पणिहारी कह उठती है—

वालूं तो जालूं थारी जीभड़ी रे लंबा ओठीड़ा, एलो
डसै तनै कालो नाग, वालाजो।

अर्थात् अरे ऊट सवार, तेरी जीभ को जला दू, जो ऐसी बाते करता है तो तेरे शरीर को काला सर्प काटे, और इस प्रकार की बात चीत कुछ आगे

---

[1] 'बिहार गाता है' (दरभंगा), पृष्ठ ४४
[2] 'शोध पत्रिका' (उदयपुर, भा० २ अं० ३, पृष्ठ १२४)

तक भी चलती है। फिर भी दोनों गीतों की पृष्ठभूमि एवं प्रेम-परिहास में एक विचित्र प्रकार का सादृश्य लक्षित होता है।[1] इसी प्रकार भाई-बहन, पिता पुत्री एवं माता-पुत्री के भी सरल स्नेह के अनेक उदाहरण विविध बोलियों के लोकगीतों में प्रायः एक समान मिलते है जिनसे प्रकट होता है कि जनसाधारण में सदा एक ही प्रकार की भावधारा कभी बहती रही होगी। परकीया प्रेमिका से संबंध रखने वाले लोकगीतों की रचना कदाचित् उस काल से होने लगी जब एक ओर यहाँ पर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा और दूसरी ओर राधा जैसी प्रेमिकाओं के पौराणिक आख्यानों का अधिक प्रचार भी आरंभ हो गया।

इस्लामी संस्कृति का प्रभाव भी एक ही बार पूर्ण रूप में नही पड सका और न वह भी उतना हिंदी काव्य पर पड़ पाया। कम मे कम दक्खिनी हिंदी की उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनमें व्यक्त किया गया प्रेमभाव का प्रारंभिक रूप भारतीय परंपरा का ही अनुसरण करता था। पुरुष का प्रेम स्त्री के प्रति और स्त्री का प्रेम पुरुष के प्रति प्रदर्शित किया जाता था और उस समय तक माशूक को पुंल्लिग में चित्रित करने की वह प्रथा दक्खिनी हिंदी के कवियों में प्रचलित नही थी जो आगे चल कर दिल्ली एवं लखनऊ की उर्दू के प्रभाव में चल निकली। मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने अपनी प्रत्येक प्रेयसी पर कुछ न कुछ कविता की थी। इस सुल्तान कवि ने प्रेम के विषय में लिखते हुए एक स्थल पर कहा है—

मुहब्बत की लज्जत फ़रिशत्यां को नें है।
बहुत सई सो में सो लज्जत पछानी॥

---

[1] 'शोध पत्रिका' के उक्त अंक (पृष्ठ १३२-४) में राजस्थानी 'पणिहारी' गीत के साथ ऐसे ही गुजराती, पंजाबी, व्रज एवं अवधी गीतों से तुलना की गई है।

उसीका है दोजग में जीवना अनन्द सों।
जिने नेह बूझ्या है सुन ऐ अयानी॥[1]

इसी प्रकार उसने किसी प्रेयसी द्वारा इन शब्दों में कहलाया है—

तेरे दरसन की में हूं साइं माती।
मुजे लावो पिया छाती सों छाती॥
पियारे हात धर संभालो मुंजको।
कि तिल तिल दूती तुज माती डराती॥
परेम प्याला पिलावो मुंज को दम दम।
कि तूं है दो जगत में मुंज संगाती॥
न राखूं तुज नयन में राखूं दिल में।
कि तू मेरा पियारा जिव का साती॥
पिया के ध्यान सो मे मस्त हूँ मस्त।
मुंजे विरहे के बैना की (क्यों) सुनाती॥
अगर यक तिल पड़े अंतर पिया सों।
नयन जल सों सपत समदर भराती॥
नबी सिदक़े कहे कुतुबा को प्यारी।
रिझा दम दम अधर प्याला पिलाती॥[2]

मसनवी की शैली पर प्रेम-कहानी लिखने वाले पीछे के सूफी-कवियों में से सबने इस परंपरा का पूरा अनुसरण नही किया और वे अन्य कई बातों मे भी ईरान के आदर्श की ओर झुक गए।

परकीया के प्रेम को आदर्श बनाने की ओर प्रेरित करने वाले पौराणिक ग्रंथों मे सबसे बड़ा हाथ 'श्रीमद्भागवत पुराण' का माना जा सकता है।

---

[1] 'दक्खिनी हिंदी' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग), पृष्ठ १००-१
[2] वही, पृष्ठ १०४-५

उसने हिंदू वैष्णव कवियों के सामने श्रीकृष्ण की परकीया प्रेमिका गोपियों का आदर्श, कदाचित् सबसे पहले रखा और फिर 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' के प्रभाव में राधा का एक ऐसा चित्र उनके लिए उपस्थित हो गया जो पीछे कभी भुलाये भी न भूल सका। कवि जयदेव ने 'गीतगोविन्द' की रचना संस्कृत में कर के उस आदर्श को और भी स्पष्ट कर दिया जिसका अनुसरण फिर मैथिली, हिंदी, गुजराती, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में भी होता गया और भक्ति एव श्रृंगार की ऐसी पदावलियों की भरमार हो गई। हिंदी के मध्ययुगीन काव्य साहित्य का उत्तरार्द्ध तो नायक कृष्ण एव नायिका राधा की ही प्रेम-चेष्टाओं के वर्णन से भरपूर कहा जा सकता है।

आधुनिक काल में प्रेमभाव का क्षेत्र क्रमशः अधिकाधिक विस्तृत होता गया है और इसका प्रभाव हिंदी-काव्य पर भी पड़ा है। देश-प्रेम, राष्ट्रीय भाव, प्रकृति-प्रेम तथा मानवता-प्रेम आदि ऐसे अनेक विषय आ गए हैं जिनकी चर्चा पहले कभी, कदाचित् किसी प्रसंगवश ही, हो जाया करती थी, और इस प्रकार, हिंदी-काव्य के प्रेम-विषयक अंग में बहुत कुछ वृद्धि हो गई है। फिर भी प्रेमभाव की उस गहरी अनुभूति का आजकल प्रायः अभाव-सा ही दीखता है जो इसके पहले दाम्पत्य प्रेम अथवा पुरुष स्त्री प्रेम के रूप मे उपलब्ध थी और जिसके साथ एक रहस्यमय वातावरण का चित्रण भी पाया जाता था। इसी प्रकार इस समय हमें उस अलौकिक प्रेम अथवा भक्ति-भाव के भी उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जिनसे मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश परिपूर्ण रहा करता था और जो कुछ उपलब्ध हैं उनमें भी वह गंभीरता नहीं है। हिंदी-काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह के उपर्युक्त सभी रूपों के दर्शन होते हैं और इसकी तत्संबंधी रचनाएं भी कम ऊंचे स्तर की नहीं कही जा सकतीं। प्रस्तुत पुस्तक में प्रायः उन सभी प्रकार की कविताओं के कुछ न कुछ अवतरण मिलेंगे जो इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। किंतु इसमें चर्चा अधिकतर केवल प्रतिनिधि कवियों की ही

की गई है इसलिए इसमे सभी प्रेमी कवियो के नाम ढूँढना भ्रमात्मक हो सकता है।

इस पुस्तक के लिखते समय जिन पुस्तको से सहायता ली गई है उनके नाम यथास्थल देने की भी चेष्टा की गई है। मै उनके रचयिताओ के प्रति आभार प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उन पुस्तको मे बहुत-सी ऐसी भी रही है जो हिंदी-कवियो की रचनाओ के छोटे-बडे सग्रह है अथवा उन पर आलोचनात्मक निबध है। मै उनके प्रकाशको एव लेखको के प्रति उसी प्रकार कृतज्ञ हू। मै कुँवर सग्राम सिंह का भी अनुगृहीत हू जिन्होने रसखान के चित्र का उपयोग करने की सुविधा एव स्वीकृत प्रदान की। अत मे मै अपने अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का भी नाम लेना नही भूल सकता जिनके अथक परिश्रम द्वारा ही मुझे उक्त सारी पुस्तके उपलब्ध हो सकी है।

बलिया,
ज्येष्ठ सुदी १५
सम्वत् २००९

परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

१.	प्रेम-परिचय	१–१३
२.	आदिकालीन हिन्दी-काव्य	१४–३४
३.	मध्यकालीन शृंगार-काव्य और सूफी-काव्य	३५–५८
४.	मध्यकालीन संत-काव्य	५९–७८
५.	मध्यकालीन कृष्ण-काव्य एवं राम-काव्य	७९–१०६
६.	मध्यकालीन रीति-काव्य और स्वच्छन्द प्रेम-काव्य	१०७–१३४
७.	मध्यकालीन अन्य काव्य	१३५–१५२
८.	आधुनिक काल का 'भारतेन्दु युगीन' काव्य	१५३–१७०
९.	आधुनिक काल का 'द्विवेदी युगीन' काव्य	१७१–१९७
१०.	वर्त्तमान कालीन विविध काव्य	१९८–२२६
११.	वर्त्तमान कालीन छायावादी काव्य	२२७–२६०
१२.	प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और उपसंहार	२६१–२९१
१३.	नामानुक्रमणिका	२९२–२९६

प्रेमी रसखान

१. प्रेम-परिचय

प्रेम की कोई निश्चित वा उपयुक्त परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् इसी कारण, देवर्षि नारद से लेकर उसके अन्य आधुनिक मर्मज्ञों तक ने उसे किसी न किसी प्रकार अनिर्वचनीय ठहराने की ही चेष्टा की है।' फिर भी प्रेम के व्यावहारिक रूप का परिचय देने की चेष्टा बराबर की जाती रही है। तदनुसार 'प्रेम' शब्द का अभिप्राय साधारणतः उस मनोवृत्ति से लिया जाता आया है जो किसी व्यक्ति की, दूसरे के संबंध में, उसके रूप, गुण, स्वभाव, सान्निध्य आदि के कारण उत्पन्न, कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती हो। किन्तु इस कथन की परिधि के भीतर, प्रत्यक्षतः, किसी वस्तु, देश, विश्व वा भावना विशेष के भी प्रति प्रकट किया जानेवाला प्रेम आता नहीं जान पड़ता जिस कारण यह कुछ संकीर्ण प्रतीत होता है। इतना स्पष्ट है कि किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले प्रेम को ही अपने विकास वा पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर भी मिला करता है और इसीके अधिक से अधिक उदाहरण हमें समाज और साहित्य में उपलब्ध भी होते हैं। इसके सिवाय प्रायः यह भी देखा गया है कि किसी वस्तु, देश वा विश्व, आदि के प्रति प्रेम-प्रदर्शन करते समय उसे कोई न कोई मूर्त्त रूप भी दे दिया जाता है। 'निर्गुण' एवं 'निराकार' परमात्मा तक को

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' तथा 'मूकास्वादनवत्' ('नारदभक्ति सूत्र' ५१-५२)

और तत्वत: एक होते हुए भी रूपत. एव कार्यत. अभिन्न नही है।[१] 'काम' को हम प्रेम का रूप तभी दे सकते है जब उसमे आमूल परिवर्तन करके उसे अधिक से अधिक व्यापक और उदार बना दिया जाय। वैसा किया जाने पर ही उसकी इंद्रियासक्ति का विष पूर्णत दूर हो सकता है और उसके स्थान पर प्रेम का सुन्दर पुष्प विकसित और अधिष्ठित किया जा सकता है', इस बात को 'विवर्त विलास' के रचयिता ने, दूसरे शब्दो मे कहा है[२] "काम-वासना की दुर्गंधि दूर होने पर 'गोपीभाव' की दशा आ जाती है।" गोपियो के प्रेम का प्रधान लक्ष्य अपने द्वारा प्रियतम कृष्ण को सुखी करना और उन्हे सुखी देखकर स्वय भी आनदित होना था।[३]

फिर 'काम' शब्द का अर्थ पहले 'इन्द्रियपरक वासना' मात्र ही नही था न इसी कारण, उसका व्यवहार ऐसे सकुचित रूप मे हुआ करता था। 'काम' शब्द पहले प्रेम का ही वैदिक रूप था और वह इससे अधिक व्यापक भी समझा जाता था। वेदो मे इसका प्रयोग अधिकतर 'कामना' के अर्थ मे किया गया जान पडता है और इसीलिए 'पूर्ण कामना मुक्त' पुरुष को 'निकाम' भी कहा गया है।[४] "कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसोरेत प्रथम यदासीत्"

---

[१] 'It is not until lust is expanded and eradicated that it develops into the exquisite and enthralling flower of love'-'Psychology of Sex' by Havelock Ellis, Vol V, p 133.

[२] 'काम गन्ध हीन हइले गोपीभाव पाय', 'विवर्त्त विलास', पृ० ८९

[३] 'इहा के कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग। स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कोन दाग।।
अतएव कामे प्रेमे बहुत अंतर। काम अधतम प्रेम निर्मल भास्कर।।
अतएव गोपीगणे नाहि कामगंध। कृष्णसुख हेतु मात्र कृष्णेर संबंध।।'
—'श्री चैतन्य चरितामृत'

[४] 'ऊर्व इव प्रपथे कामो अस्मे' (ऋ० ३-३०-१९), 'इमं कामं मन्दया

भावना को, इसके लिए, बिना व्यक्तित्व प्रदान किये काम नहीं चलता।

अतएव, हमारे साधारण दैनिक अनुभवों में प्रेम का उक्त व्यक्तिपरक रूप ही अधिक स्पष्ट और उल्लेखनीय रहा करता है। प्रेमभाव के अंतर्गत राग की वह प्रवृत्ति रहा करती है जो किसी अन्य व्यक्ति वा अभिमत वस्तु की ओर आकृष्ट रहती है और जो सदा अप्रतिहत और अबाधित रूप में प्रवाहित होते रहने की चेष्टा करती है। यह मनुष्येतर प्राणियों तक मे कभी-कभी नैसर्गिक रूप में पायी जाती है। इस कारण इसका एक रूप उस वासना में भी लक्षित होता है जिसे साधारणतः 'काम' की सज्ञा दी जाती है और जिसे प्रायः सभी देश और काल के लोगो ने सृष्टि के उद्भव एवं विकास की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है। 'काम' को हमारे यहाँ भी आदि सृष्टि तक का मूल स्रोत ठहराया गया है और कहा गया है कि इस विचार से देखने पर पशु और मनुष्य मे पूरी समानता है। इस विषय के आधुनिक मर्मज्ञ हैवलाक एलिस का भी कथन है "यौन सम्मेलन की प्रबल आसक्ति नर-नारियो को उद्भ्रांत बना सकती है और इस प्रकार की क्षुधा मनुष्य मे पशुओं मे किंचिन्मात्र भी विभिन्न नही हुआ करती।"[१] परतु 'काम' एवं प्रेम के वीच महान् अन्तर है। काम की वासना वस्तुतः स्थूल शरीरादि से संबंध रखती है और उन्हीका उपभोग करना चाहती है तथा, इस प्रकार, वह कुछ काल के लिए तृप्त भी हो जाया करती है। किंतु प्रेम के विषय मे यह बात नही कही जा सकती, क्योंकि उसका आधार प्रधानतः मानसिक अथवा हृदयपरक हुआ करता है और वह सदा एक-रसता की अपेक्षा करता है। इसके सिवाय 'काम' एक प्रकार की चाह वा अभिलाषा है जिसका प्रमुख उद्देश्य स्वार्थपरक हुआ करता है, जहाँ प्रेम के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। वास्तव मे, 'काम' एवं 'प्रेम' दोनो मूलतः

---

[१] 'साइकालोजी आफ़ सेक्स' से उद्धृत 'हारामणि', पृ० ४२

में 'काम' शब्द वस्तुतः उस व्यापक अर्थ का ही बोधक है। फिर पीछे इसका प्रयोग क्रमशः संकुचित अर्थ में भी होने लगा और अत्यधिक काम की प्रवृत्ति वाले पुरुष को 'कामी' कहकर उसे हेय तक ठहराया जाने लगा।[१] जान पड़ता है कि कामास्पद पदार्थ के प्रति अत्यधिक आसक्ति और तज्जनित वासना ने ही 'काम' को दूषित भावना अथवा कुसंस्कार का रूप दे डाला और अधिकतर, आत्मतृप्ति को ही अपना अन्तिम लक्ष्य बनाने के कारण उसकी प्रवृत्ति गर्ह्य एवं निन्दित समझी जाने लगी। प्रेम के भीतर भी कामना एवं आसक्ति का अंश प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है, किंतु वह आत्मार्पण के भाव से मर्यादित भी होता है। इस कारण प्रेमी अपनी प्रेमास्पद वस्तु को आत्मसात् कर लेने की अपेक्षा उसके तद्रूप हो जाना तथा उसके साथ एक बन जाना चाहता है। काम की दशा में किसी काम्य पदार्थ को अपना बनाकर उसे अपने उपभोग में लाने की प्रवृत्ति देखी जाती है जहाँ प्रेम की स्थिति में प्रेमास्पद वस्तु सदा आत्मीय बनी रहती है और उसका क्षणिक वियोग भी प्रेमी को विरहातुर बना देता है। प्रेम इस प्रकार 'इश्क़' का पर्यायवाची-सा प्रतीत होता है और इस शब्द का प्रयोग बहुधा उसके लिए किया भी जाता है। परन्तु 'इश्क़' शब्द शामी जातियों के समाज का है जहाँ इसके प्रयोग प्रायः सीमित अर्थ में ही किये जाते हैं और इसका

गोभिरश्वै श्चन्द्रवता राधसा प्रपथश्च' (वही मं० २०) तथा 'ते कुत्सः सख्ये निकामः' (वही, सू० १६ मं० १०) इस संबंध में संत कबीर साहब ने भी इस प्रकार कहा है:—

'कांम कांम सब को कहै, कांम न चीन्हे कोइ।
जेती मन की कांमना, काम कहीजे सोइ ॥३२॥' (क० ग्रं० पृ० ४१ पाद टिप्पणी)

'वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्।
देवत्रा कृणुते मनः' (ऋ० ४-६१-८)

समागम (Association) बहुत सी ऐसी भावनाओं के साथ हो चुका है जो सदा उच्च एवं पवित्र नहीं समझी जा सकती। अतएव 'प्रेम' और 'इश्क' के बीच भी वैसा ही अंतर जान पड़ता है जैसा 'धर्म' और 'मज़हब' के बीच है।

शुद्ध प्रेम अहेतुक अर्थात् बिना किसी स्वार्थपरक इच्छा के हुआ करता है। उसका संबंध किसी गुण विशेष के साथ भी नहीं रहता। किसी गुण के आधार पर जागृत हुआ प्रेमभाव, उस गुण के किसी कारण न दीख पड़ने पर आप से आप नष्ट हो सकता है। परन्तु सच्चे प्रेमी को तो अपने प्रेमास्पद में किसी गुण वा दोष के ढूँढने का कभी अवकाश ही नहीं मिलता। कभी-कभी उसे यह भी पता नहीं चलता कि वह उसके प्रति क्यों और किस प्रकार आकृष्ट होता जा रहा है। उसकी लगन स्वाभाविक बन जाती है। प्रेम यदि गुणों और दोषों द्वारा प्रभावित होता तो उसमें, क्रमशः कभी वृद्धि और कभी कमी भी दिखलाई पड़ती। परन्तु ऐसी बात नहीं है। वह तो सदा एक अविच्छिन्न धारा की भाँति प्रवाहित होता रहता है और उसमें नित्यशः बढ़ते रहने की ही प्रवृत्ति दीख पड़ती है।[1] प्रेमभाव के सागर में निरन्तर मग्न रहने के कारण एक प्रेमी को सदा वही अनुभूत होता रहता है। वह जैसे उसीको देखा करता है, उसीकी सुनता है, उसीकी चर्चा करता है और उसी एकमात्र का चिंतन तक किया करता है।[2] वह प्रेमी के रोम-रोम में व्याप्त होकर उसे अपने रंग में पूर्णतः रँग देता है जिस कारण उसकी दशा और की और हो जाती है। न केवल उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है अपितु उसके जीवन में ही आमूल परिवर्तन हो जाता है और

---

[1] 'गुण रहितं, कामना रहितं, प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव रूपम्' (नारद भ० सू० ५४)

[2] 'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति' वही, सू० ५५

वह सदा के लिए बिक-सा जाता है। प्रेमी के ऊपर इतनी गहरी मादकता बनी रहती है कि वह अपने आत्मनिरीक्षण द्वारा प्रेम-भाव के सूक्ष्मतर तंतुओं की परीक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

प्रेमी एवं प्रेमाधार के पारस्परिक सबंधानुसार व्यक्तिगत प्रेम का रूप कुछ भिन्न-भिन्न भी हो सकता है और तदनुसार इसके प्रधानतः तीन भेद बतलाये जा सकते हैं। प्रेमपात्र की स्थिति यदि प्रेमी की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की हो तो यह उसके प्रति श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करता है और यदि अधिक निम्न स्तर की हो तो यह उसे स्नेहभाव की दृष्टि से देखा करता है। किसी शिष्य का जो भाव अपने गुरु के प्रति हुआ करता है वही किसी माता का अपनी सतान के प्रति नहीं होता। इसी प्रकार एक समान वय अथवा वर्गवाले दो व्यक्तियो की स्थिति में यही भाव एक नितान्त भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है। दो मित्रों अथवा पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति प्रकट किया जानेवाला भाव श्रद्धा वा स्नेह की अपेक्षा न करके सौहार्द के रूप मे दीख पड़ता है। अतएव इन तीनों प्रकार के प्रेमभावों की व्याख्या बहुधा पृथक्-पृथक् भी की जाती है और इनका तुलनात्मक विवेचन भी किया जाता है। श्रद्धापरक प्रेमभाव को 'भक्ति' की संज्ञा दी जाती है और इसी प्रकार, स्नेहसिंचित प्रेम को वात्सल्य भाव तथा सौहार्दपूर्ण प्रेम को सख्यभाव अथवा माधुर्यभाव कहा जाता है। प्रेमभाव की अनुभूति, इन तीनों मे ही, अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ हुआ करती है और उसमे उन्हीके अनुरूप तीव्रता भी पाई जाती है।

इस विषय पर कुछ विशेष विचार करने पर पता चलता है कि जो गंभीरता और विशुद्धता उक्त तृतीय प्रकार के प्रेम में पायी जाती है, वह शेष दूसरे अथवा पहले प्रकार के प्रेमभावों में लक्षित नही होती। वास्तव में बहुधा तीसरे को ही 'प्रेम' की संज्ञा दी जाती है, दूसरे की दशा में जहाँ प्रेमी का हृदय गर्व एवं अधिकार जैसे कतिपय बड़प्पन के भावों द्वारा प्रभावित रहा करता है वहाँ पहले की दशा में प्रेमी अपने प्रेमपात्र के प्रति भय, दैन्य,

दासत्व अथवा ग्लानि के मनोविकार प्रदर्शित करने लगता है। इस कारण इन दोनों ही दशाओं में प्रेम का स्वाभाविक रंग कुछ न कुछ फीका पड़ जाता है और वह कुछ मंद-सा बन जाता है।

कहा गया है कि सृष्टि के पहले परमात्मा अपनी अद्वयता के कारण, आत्म प्रेम में ही लीन था, किन्तु उस प्रेम को वाह्य रूप में भी अनुभव करने की इच्छा से उसने 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न किया और अपने प्रतीक के रूप में मनुष्य की भी सृष्टि की।[1] इस प्रकार प्रेम की अभिव्यक्ति के ही कारण उसकी अद्वयता भंग हुई और इसीसे उसे सृष्टि-निर्माण की प्रेरणा भी मिली। विश्व में जो कुछ भी नियम एवं सुव्यवस्था का परिणाम दीख पड़ता है वह मूलतः प्रेम के ही कारण है। आकाश के जितने भी नक्षत्र-मंडल हैं वे सभी इस प्रेम के ही किसी अपूर्व आकर्षण द्वारा बद्ध और सचालित हैं, और सूर्य एवं चन्द्रमा भी उसी नियम के पालन में लगे हुए हैं। वृक्ष अपनी जड़ों द्वारा पृथ्वी से चिपके हुए हैं, भ्रमर कमल के चतुर्दिक मंडराता फिरता है, मछली पानी का परित्याग नहीं कर पाती और स्त्री एवं पुरुष की जोडी एक दूसरे के प्रति आपसे आप अनुरक्त हो जाती है।[2] वह परमात्मा मानो सभी को अनुप्राणित करता रहता है और वही हमारे श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, वाणी का वाणी है और प्राण का प्राण भी है।[3] आत्मतत्त्व के रूप में वही हमारे अंतरतम में अवस्थित है और हमारे लिए वह पुत्र, धन, आदि सभी वस्तुओं से प्रियतर भी है।[4] अतएव, प्रेम, वस्तुतः, परमात्मा के सारतत्त्व का भी सारतत्त्व है जैसे कि प्रसिद्ध सूफ़ी हल्लाज ने बतलाया है। उसके कभी-कभी 'सहज' भी कहलाने की सार्थकता इसी बात में है कि यह

---

[1] निकोलसनः स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म' पृ० ८०

[2] 'ज्ञान सागर' (साहित्य परिषद् ग्रंथावली, सं० ५९) पृ० २४-६

[3] 'केनोपनिषत्' (१-२)

[4] 'वृहदारण्यकोपनिषत्' (१-४-८)

न केवल सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है ('सह' साथ और 'ज' उत्पन्न), अपितु यह विश्व का नैसर्गिक नियम भी है तथा आत्मा एवं परमात्मा के मौलिक संबंध का कारण भी इसीमे निहित है। 'आत्मीयता' का वह 'भाव' जिसके उमंग में आकर एक व्यक्ति अन्य के प्रति अपने स्वार्थ का सुखपूर्वक त्याग कर देता है उस मौलिक वृत्ति का ही एक पर्याय है। शुद्ध प्रेम की प्रवृत्ति सदा स्वच्छन्द रहकर ही प्रवाहित होना चाहती है, वह किसी संयम वा मर्यादा के अंकुश को कभी सहन नही कर पाती। प्रेमी एव प्रेमपात्र की एक समान स्थिति प्रेमधारा के प्रसारार्थ एक समतल भूमि प्रस्तुत कर देती है और दोनों का पारस्परिक प्रणय, एक दूसरे की ओर अबाध गति के साथ वृद्धि पाता हुआ, दोनों को, अत में, एक और अभिन्न बना देने में पूर्णतः समर्थ होता है। फलतः प्रेमसाहित्य के अन्तर्गत बहुधा सख्यभाव की ही प्रधानता दीख पड़ती है और उसका भी सर्वोत्तम रूप केवल उसी दशा मे प्रत्यक्ष होता है जब प्रेमी एवं प्रेमपात्र के बीच स्त्री-पुरुष वा दाम्पत्य सबध रहा करता है। किन्तु इसके लिए भी उन दोनो का किसी वैवाहिक सूत्र द्वारा आबद्ध हो जाना कुछ अनिवार्य नही है। एक पुरुष और एक स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना निसर्गसिद्ध है जिसका कारण वह स्वकीया की अपेक्षा इसके परकीया रूप को स्वभावतः अधिक अपनाता है। इस प्रकार के स्वाभाविक अनुराग को ही इसी कारण, 'सहजभाव' का भी नाम दिया जाता है जो 'सहजिया संप्रदाय' का आदर्श है।

प्रेम के विषय की चर्चा कभी-कभी इसे 'लौकिक' एवं 'अलौकिक' नामक दो भिन्न-भिन्न शीर्षको के नीचे लाकर भी की जाती है। प्रेम का लौकिक रूप उसे समझा जाता है जो किसी एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति, उक्त तीनों में से किसी भी एक प्रकार, साधारणतः व्यक्त होता दीख पड़ता है। किन्तु अलौकिक प्रेम किसी व्यक्ति को उसके किसी इष्टदेव के साथ संबद्ध कर देता है और उसका आश्रय अधिकतर काल्पनिक हुआ करता है। जगत् की सृष्टि और उसके नियन्त्रण के पीछे किसी अलौकिक शक्ति

का काम करना अत्यंत प्राचीन काल से माना गया है और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों अथवा जातियों ने उसे देशकालानुसार किसी न किसी प्रकार का रूप भी दे डाला है। तदनुसार वे उसके प्रति सदा आदर और सम्मान के भाव प्रकट करते हैं और उसके साथ आत्मीयता प्राप्त करने के प्रयत्न में उसे रिझाया भी करते हैं। इस रिझाने वा प्रसन्न रखने की चेष्टा में ही वह व्यक्ति अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धापरक प्रेम का प्रदर्शन किया करता है जो भक्ति के नाम से भी प्रचलित है और जिसे, उसको इष्टवस्तु के लोकोत्तर समझे जाने के कारण, 'अलौकिक प्रेम' भी कह दिया जाता है। 'अलौकिक' शब्द की सार्थकता यहाँ पर किसी प्रेमी वा भक्त के प्रेमभाव के कारण नहीं अपितु उसके प्रेमपात्र भगवान् के कारण है, क्योंकि प्रेमी वा भक्त सदा लौकिक ही हुआ करता है और उसकी भक्ति भी सदा लौकिक नियमों का ही अनुसरण करती है।

फिर भी इस 'अलौकिकता' के संबंध में कई भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान किये जा सकते हैं। उपर्युक्त सहजिया संप्रदाय वाले वैष्णवों की धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य को हम दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देख सकते हैं जिनमें से एक को उन्होंने 'रूप' एवं दूसरी को 'स्वरूप' का नाम दिया है और बतलाया है कि पहली अथवा रूप की दृष्टि में जहाँ वह इस भौतिक संसार का एक प्राणी मात्र है वहाँ दूसरी अर्थात् स्वरूप की दृष्टि के अनुसार उसे हम कृष्ण वा राधा मान सकते हैं। इस प्रकार उसके रूप के ऊपर स्वरूप का 'आरोप' किया जा सकता है और इस रूप के ही आधार पर स्वरूप की साधना सिद्ध भी की जा सकती है। मानवीय प्रेम ही अपना पूर्ण विकास पाकर आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो सकता है जिस कारण एक सहजिया भक्त को किसी बाह्य अलौकिक इष्टदेव के प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं और न उसके लिए उसके किसी पूजन वा अर्चन का ही विधान है। जिस प्रकार दूध बिना आग पर औटे हुए गाढ़ा नहीं हो सकता उसी प्रकार मानवीय प्रेम के पूर्ण विकास

के लिए तथा उसके आध्यात्मिक प्रेम में परिणत होने के लिए भी साधक को किसी 'प्रकृति' अर्थात् स्त्री के संगरूपी अग्निकुंड की आवश्यकता पड जाती है।[१] बंगला के 'बाउल संप्रदाय' वाले भी अपने इष्टदेव की कल्पना कही बाहर से नही करते। सहजियावालों की भाँति किसी 'आरोप' की चर्चा न करके वे प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे अपने प्रियतम 'मनेर मानुष' का अस्तित्व स्वीकार कर लेते है और उससे प्रेम करने लगते है। वही उनके लिए 'सहज' का स्थान ले लेता है और उसे ही वे एक प्रकार का अलौकिक व्यक्तित्व भी प्रदान कर देते है। वे उसके साथ प्रत्यक्ष संबध स्थापित करते है और उसके द्वारा वस्तुत: आत्म प्रेम की सहायता से आत्म सिद्धि लाभ करते है। उनकी प्रेम-साधना सूफ़ियों की भी प्रेम-साधना से भिन्न है क्योंकि सूफी लोग परमात्मा को अपनी रूह का मूल स्वरूप स्वीकार करके उसे ही अपना 'प्रियतम' भी माना करते है और उसकी ओर दाम्पत्य प्रेम वा स्त्री-पुरुष प्रेम के ही आदर्श पर अग्रसर होते है। किन्तु बाउलो के यहाँ स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम वैसा महत्त्व नही रखता और इस बात मे वे उत्तरी भारत के सतो के समान है। सतो के लिए आत्मा एव परमात्मा तत्वत: एक ओर अभिन्न है और उनकी निर्गुणोपासना इन्हे केवल व्यवहारत: द्विधा करके इनके बीच उपासक एव उपास्य का सबंध ला देती है। वे इस प्रकार, उसके प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रेमभाव प्रदर्शित करने लगते है।

प्रेम, चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक, उसमें प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता के भाव का भी होना अत्यत आवश्यक है। इसके रहने से न केवल प्रेमी वा भक्त अपने इष्ट के प्रति आकृष्ट रहा करता है, अपितु वह अन्य वस्तुओं से उदासीन वा विरक्त तक बन जाता है। इसका एक परिणाम बहुधा यह भी देखा जाता है कि प्रेमी वा भक्त का जीवन क्रमश: एक निवृत्तिमूलक रूप ग्रहण कर लेता है। उसे फिर किसी प्रकार का

---

[१] 'विवर्त्त विलास', पृ० १६४९

सांसारिक प्रलोभन अपने प्रेममार्ग से किसी प्रकार विचलित नहीं कर पाता। वह प्रत्येक अन्य वस्तु को अपने उद्देश्य की सिद्धि में बाधक मानने लगता है। इस प्रकार, कभी-कभी उसके सामने सारा संसार ही कष्टदायक प्रतीत होने लगता है। परन्तु किसी प्रेमी वा भक्त का इस प्रकार की दशा को प्राप्त हो जाना उसके प्रेमभाव की न्यूनाधिक व्यापकता एवं गंभीरता पर निर्भर है। प्रेमभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह किसी एक विन्दु पर केवल केन्द्रित हो जाने के ही कारण, सभी ओर से सीमित और अवरुद्ध भी हो जाय। उसकी तीव्रता एव गंभीरता के द्वारा उसमें एक अपूर्व शक्ति का संचार भी हो आता है जिसके फलस्वरूप अंत में, वह एक अणुबम की भाँति स्वभावतः फूटकर सर्वव्यापी बन जाता है और प्रेमी वा भक्त की मनोवृत्ति को सदा के लिए एकमात्र अपने ही रंग में रंग देता है। उसी क्षण से उसे सभी अन्य वस्तुएँ भी प्रेमरंग में ही सराबोर दीख पड़ने लगती है और वह उन्हें अपने प्रियतम से अभिन्न-सा पाता है। अलौकिक प्रेम की दशा में इस नियम का चरितार्थ होना और भी अधिक संभव है, क्योंकि वैसी स्थिति में एक भक्त अपने इष्ट-देव को बहुधा सर्वव्यापक एव सर्वनियंता भी मानता रहता है जिससे उसके दृष्टिकोण के व्यापक बन जाने में सरलता होती है। इस प्रकार अनन्य भक्त वस्तुतः वही कहला सकता है जो अपने इष्टदेव को सबमें देखा करे और सबमें उसीका नाता भी निभाये। दास्य भाव की भक्ति के उपासक गोस्वामी तुलसीदास ने, इसी कारण, एक स्थल पर स्वयं अपने इष्टदेव रामचन्द्र द्वारा कहलाया है,

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥३॥[1]

अनन्यता की दशा प्रेमभाव की पराकाष्ठा को सूचित करती है और वह प्रेमी की सिद्धावस्था में ही संभव है। ऐसी स्थिति में उसे अपने प्रिय-

---

१ 'रामचरित मानस' (किष्किन्धा कांड)

तम का रूप ही प्रेममय बन जाता है जो निरन्तर उसके रोम-रोम में व्याप्त और ओतप्रोत रहा करता है और वह तृप्त हो जाता है। परन्तु अनन्यता की भी पूर्णावस्था तभी समझी जा सकती है जब वह सदा एक-रस बनी रहे और वह एक क्षण के लिए भी मन्द न पड़ने पावे। अनन्य प्रेमी अपने प्रियतम का वियोग क्षणमात्र के लिए भी सहन नहीं कर सकता। वह अपनी दशा मे, आनन्दसागर मे मग्न-सा रहा करता है जिस कारण उससे तनिक भी बाहर आ जाना उसे जल से बिछुड़ी हुई मछली की भाँति, अधीर बना देता है। प्रेम की ऐसी मनोवृत्ति प्रेम के जीवन की चिरसगिनी बनी रहना चाहती है और उसमे क्षणिक परिवर्त्तन का भी आ जाना उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यह मनोभाव उस व्यक्ति को इस प्रकार अभिभूत किये रहता है कि वह उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणो तक पर खेल जाना बहुत बड़ी बात नही समझता। प्रियतम की वियोगावस्था केवल उसी दशा मे सह्य हो सकती है जब या तो वह अधिक तीव्र न बन जाय अथवा उसकी अवधि सीमित एव क्षणस्थायी हो। ऐसी दशा मे उसकी आशा एव प्रतीक्षा की वृत्तियाँ उसे सुरक्षित रखती है और वह पीछे अपने को सँभाल भी लिया करता है।

प्रेम का भाव, इस प्रकार, अत्यन्त सुदृढ़, गभीर एव शक्तिशाली होता हुआ भी, साथ ही पारे की भाँति, सदा तरल एव अनस्थिर भी रह सकता है जिसके कारण, तनिक भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हो, वह बेचैनी उत्पन्न कर देता है। उसमे स्थिरता का लाना तभी सभव हो सकता है जब उसमें तृप्तिजन्य सतोष एव शान्ति भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान रहे। ऐसी दशा मे वह प्रेमी के शात जलाशय रूपी हृदय के ऊपर सूक्ष्म वनस्पति-जाल-सा फैलाकर उसे आवृत कर लेता है और यदि किसी प्रकार उस पर बाहर से फेके गये ढेले के समान कोई आघात भी पहुँच जाता है तो वह फिर शीघ्र सिमिट कर अपना पूर्व रूप ग्रहण कर लिया करता है। प्रेम एवं विरह दोनो एक ही दशा के दो भिन्न-भिन्न पार्श्व कहे जा सकते है। विरह की दशा

में भी प्रेमास्पद का अभाव नहीं रहता। उसका रूप एक प्रकार से स्थूल से सूक्ष्म अथवा सूक्ष्मतर मात्र बन जाता है और वह प्रेमी के मनोभाव में घुल-मिल-सा जाता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र को, उस दशा में, चाहे अपनी बाहरी आंखों से न देख सके, कानों से उसकी वाणी न सुन सके अथवा उसके अंगों को स्पर्श न कर सके, उसके हृदय-पटल पर उसकी मूर्ति सदैव अंकित रहा करती है। इस प्रकार वह, अपने को उसके साथ बातचीत करता तथा उसे आलिंगन करता हुआ तक पा सकता है। अलौकिक प्रेम की दशा में तो इस स्थिति का परिचय हमें, विरह के उपस्थित न होने पर भी, मिला करता है। इष्टदेव यदि सगुण और साकार हो तब भी उसे स्थूल अथवा भौतिक रूप में कभी प्रत्यक्ष कर लेना किसी प्रकार संभव नहीं कहा जा सकता, उसका प्रतिनिधित्व उसका कोई न कोई प्रतीक किया करता है जो भक्त के ही द्वारा कल्पित एक भावनामूलक रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और इष्टदेव के निर्गुण एवं निराकार होने पर तो उसके रूप का वस्तुतः अभाव हो जाता है और उपास्य एवं उपासक का द्वैतभाव तक वहाँ स्वयं निर्मित और कृत्रिम रहा करता है। निर्गुणोपासक भक्त की भावना मूलतः अद्वय ज्ञान पर आश्रित रहती है और प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति के लिए वह अपने को ही द्विधा विभक्त कर डालता है। इस प्रकार, अपने कल्पित प्रेमास्पद के संबंध में कभी-कभी विरह-भाव तक का अनुभव करने लग जाता है।

२. आदिकालीन हिन्दी-काव्य

प्रेमभाव अथवा विरह को, साहित्य के अन्तर्गत, श्रृंगाररस का विवेचन करते समय स्थान दिया जाता है। श्रृंगाररस का स्थायी भाव 'रति' है जो 'मनोनुकूल वस्तु से प्रभावित होकर उसके प्रति मन के स्वतः उन्मुख हो पड़ने का भाव' सूचित करती है। वास्तव में 'श्रृंगार' शब्द के साथ जुड़े हुए 'श्रृंग' का अर्थ ही यहाँ पर 'मन्मथोद्‌भेद' अर्थात् कामभाव की उत्तेजना का लिया जाता है। इस प्रकार पूरे 'श्रृंगार' से अभिप्राय उस भाव के आगमन अथवा उदय का कारण माना जाता है। किन्तु केवल इसी कारण श्रृंगाररस के संबंध का कोरी ऐन्द्रिय वासनाओं के ही साथ रहना अनिवार्य नहीं है। वह इनसे सर्वथा मुक्त और उत्तम प्रकृति का भी समझा जा सकता है जिसे साहित्य के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।[1] अतएव, 'रति' यहाँ पर काम वासना का एक पर्याय मात्र न होकर शुद्ध रागात्मिका वृत्ति की परिचायिका है। फिर भी जिस 'रति' की चर्चा श्रृंगाररस के संबंध में की जाती है उसे उपर्युक्त 'लौकिक प्रेम' के ही विवेचन में स्थान दिया जाता है। 'अलौकिक प्रेम' अथवा भक्ति को रस की कोटि तक विकसित हो सकनेवाली वृत्ति प्रायः नहीं स्वीकार किया जाता। न केवल भरतमुनि ने इसकी उपेक्षा की है, अपितु मम्मट ने भी देव, गुरु, नृप, पुत्रादि विषयक रतिजन्य आनन्द को केवल एक 'भाव' मात्र की ही संज्ञा दी है[2]

---

[1] **'श्रृंगं हि मन्मथोद्‌भेद स्तदागमन हेतुकः।**
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः श्रृंगार इष्यते॥' (साहित्य दर्पण)

[2] **'रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः', और**

और पंडितराज जगन्नाथ जैसे अन्य आचार्यों ने भी लगभग उसी मत का समर्थन किया है। भक्ति को एक स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार करने की परिपाटी उन आचार्यों की ओर से चलाई गई जो स्वयं भी भक्त थे। रूप गोस्वामी ने 'भक्तिरस' का स्वतन्त्र विवेचन बड़े विस्तार के साथ अपने ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' में किया है और इसके 'मुख्य' तथा 'गोण' नामक दो प्रधान भेद करके प्रथम के अन्तर्गत 'शान्त', 'प्रीति', 'प्रेय', 'वत्सल' तथा 'मधुर' को और दूसरे में 'हास्य', 'अद्भुत', 'वीर', 'करुण', 'रौद्र', 'भयानक' एवं 'वीभत्स' को समाविष्ट किया है।[१] इस भक्तिरस की एक विशेषता यह भी मानी गई है कि काव्यजन्य रस की निष्पत्ति जहाँ सहृदय जनों में हुआ करती है वहाँ भक्तिरस की निष्पत्ति पूर्व संस्कार-पूर्ण भक्त हृदय में मानी जाती है क्योंकि भक्त हृदय का आलंबन सदा उसका इष्टदेव बना रहता है, जो 'रसो वै स.' के अनुसार उसका सभी कुछ है।

प्रेम की मनोवृत्ति, इस प्रकार, एक अत्यंत व्यापक भाव की ओर संकेत करती हुई दीख पड़ती है। इसी कारण, इसका विषय साहित्य के अन्तर्गत भी सदा एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता आया है। प्रेमजन्य रस में न केवल शृंगाररस की आसक्ति और आकर्षण है, अपितु इसमें शान्तरस की अनन्यता एवं स्वरूप चिंतन है तथा साथ ही वीररस का उत्साह एवं आत्म त्याग भी वर्त्तमान है। यह सृष्टि की प्रारंभिक मूल प्रेरणा से लेकर 'लौकिक प्रेम' के सौहार्दभाव तक का जहाँ रूप ग्रहण करता आया है और समाज का एक सर्वप्रधान सहायक रहा है वहाँ इसने, 'अलौकिक प्रेम' के रूप में, असंख्य नर-नारियों को अपूर्व शान्ति एवं आनन्द के अनुभव का अवसर भी प्रदान किया है। अतएव, संसार की सभी उन्नत भाषाओं के साहित्य में

'आदि शब्दान्मुनि गुरु नृप पुत्रादि विषयाः' (काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास)

[१] 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु' (दक्षिण विभाग, लहरी ५)

इसकी चर्चा विशेष रूप से होती आई है और हिन्दी का साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम रूप उसकी काव्य-धारा की आकृति में प्रकट हुआ था। उसके इतिहास के आधुनिक काल तक लग-भग वही परम्परा प्रचलित रही और बहुत पीछे चलकर उसे व्यापक साहित्य का रूप मिला, इस कारण प्रेमभाव की अभिव्यक्ति अथवा उसके विषय का विवेचन भी प्रधानतः उसकी काव्यधारा में ही उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी-काव्यधारा का मूल स्रोत अपभ्रंश भाषा की रचनाओं के साथ लगा हुआ है जिनका निर्माण-काल सं० ७५० से स० १२५० तक ठह-रता है। सं० ७५० के आसपास उन सिद्धों का युग आरंभ होता है जो बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और जिन्हे बहुधा वज्रयानी वा सहजयानी कहा जाता है। ये सिद्ध अधिकतर अपनी सांप्रदायिक साधनाओं मे निरत रहा करते थे और समय-समय पर अपनी रचनाओं द्वारा उपदेश भी देते थे। उस युग के अनेक जैन मुनियों ने भी, प्रचलित परम्परानुसार कई धर्म कथाओं की रचना की थी और उपदेश-ग्रन्थ लिखे थे तथा नाथ-पंथियों ने, उक्त सिद्धों के अनुकरण में, अपनी 'बानियों' का निर्माण किया था। इसके सिवाय उस युग के कतिपय ऐसे व्यक्तियों की भी कृतियाँ उपलब्ध है जो केवल किसी धार्मिक भावना के ही साथ नहीं लिखा करते थे। वे उस समय कभी-कभी कुछ फुटकर पद्यों की रचना कर देते थे अथवा ऐसी प्रेमगाथाए लिखा करते थे जिनमें प्रेम एवं विरह से संबंध रखने वाली विविध घटनाओं का समावेश रहा करता था। इन सभी उपर्युक्त रचनाओं की भाषा प्रधानतः अपभ्रंश रहा करती थी जिसमें प्राकृत का भी पुट पाया जाता था और कहीं-कहीं प्राचीनतम हिन्दी के भी रूप न्यूनाधिक दीख पड़ते थे। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के पीछे हिन्दी का वास्तविक रूप क्रमशः निखरता हुआ जान पड़ा और उसकी शैली में भी विविध परिवर्त्तन हुए।

हिन्दी काव्यधारा के इस आदिकालीन अंश में हमे प्रेम का प्रवाह वस्तुतः अपने लौकिक रूप में ही लक्षित होता है। सिद्ध लोग जहाँ अपनी रचनाओं

में, निर्वाण वा शून्यता की सहचारिणी नैरात्मा देवी को परिशुद्धावधूतिका रूप देते जान पड़ते हैं और धर्मकार्य में लीन होकर उसका गाढ़ालिंगन करने का रूपक बाँधते हैं, वहाँ वे उसके काल्पनिक व्यक्तित्त्व के प्रति अपना प्रेमभाव भी प्रकट करते हैं। किन्तु उनका उस प्रेमपात्री के प्रति प्रदर्शित प्रेम किसी अलौकिक श्रेणी का नहीं जान पड़ता। उनके उस प्रेम में भक्ति-प्रदर्शन का अंश नाम मात्र का भी नहीं प्रतीत होता, अपितु समझ पड़ता है कि वे उस नैरात्मा को अपनी सहयोगिनी मुद्रा से किंचिन्मात्र भी अभिन्न नहीं मानते और उनका प्रत्येक उद्गार वस्तुत: इसीको लक्ष्य बनाकर व्यक्त हुआ है। इस प्रकार, उनके प्रेम का आधार किसी अलौकिक व्यक्ति के होते हुए भी, उसका रूप तत्त्वत: लौकिक ही कहा जा सकता है। फिर भी शुद्ध लौकिक प्रेम का रूप हमें केवल उन कवियों की रचनाओं में ही उपलब्ध होता है जिन्होंने, धार्मिक भावनाओं के प्रति उदासीन रहते हुए अपनी कविताएं की हैं तथा जिनकी कृतियाँ बहुधा फुटकल पद्यों वा प्रेमगाथाओं के रूप में पायी जातीहैं। अलौकिक प्रेम का शुद्ध रूप जैसा, भक्तिकाल के अन्तर्गत काव्य-रचना करनेवाले संतों और भक्तों की कविताओं में, पीछे चलकर, प्रकट हुआ वैसा उस काल की प्राप्त रचनाओं में कहीं भी नहीं पाया जाता। तत्कालीन जैन धर्मी कवियों तक के ग्रन्थ अधिकतर प्रशंसात्मक आख्यानों अथवा सदाचार संबंधी उपदेशादि से ही संबंध रखते समझ पड़ते हैं और उनकी वे धर्मकथाएं भी जिन्हें कभी-कभी 'उपमिति' कथाओं का नाम दिया जाता है पीछे लिखी गई सूफी प्रेमगाथाओं से बहुत कुछ भिन्न हैं।

फिर भी अपभ्रंश में उपलब्ध होनेवाले जैन धर्मी कवियों के चरित ग्रंथों के साथ हिंदी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों की तुलना करने पर कई समानताएँ भी दीखती हैं। श्री रामसिंह तोमर ने ऐसी ही एक तुलना अपभ्रंश की 'भविसयत्त', 'जसहर चरिउ', 'करकंड चरिउ' जैसी अपभ्रंश चरित रचनाओं तथा 'पदुमावति', 'मधुमालति', 'मृगावति', 'चित्रावलि' आदि सूफ़ी प्रेम-

गाथाओं के बीच की है और कई एक समान बातें ढूँढ निकाली है जिनमें से कुछ इस प्रकार है—[1]

१. इन सभी रचनाओ मे प्रमुख स्थान किसी न किसी प्रेम-कथा को दिया गया है ।

२. इनमे प्रेमभाव का उदय भी समान रूप से, गुणश्रवण, चित्रदर्शन, परस्पर मिलन आदि से होता है ।

३. पारस्परिक विवाह-संबंध अथवा संयोग के पहले इनमे सर्वत्र प्रेमियों को प्राकृतिक, दैवी वा ईर्ष्याजन्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

४. कभी-कभी इनमें नारियो की प्रवंचना के भी उदाहरण पाये जाते है।

५. जैन धर्मी कवि अपनी प्रेम-कथा मे स्पष्ट रूप से अपने धार्मिक मत का प्रचार कर देते है और सूफ़ी कवि वही बात संकेत द्वारा करते है । इस प्रकार हिंदी की सूफी प्रेमगाथाओ को हम पूर्व प्रचलित अपभ्रंश चरित परम्परा का ही न्यूनाधिक अनुसरण करनेवाली रचनाएँ कह सकते हैं । किंतु जहाँ तक प्रेम के विषय के रहस्योद्घाटन तथा उसके विस्तृत वर्णन का संबध है जैन धर्मी कवियों के चरितों मे सूफ़ियों की प्रेमगाथाएँ कही अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जा सकती है। इसमें संदेह नही कि इन दोनो ही प्रकार की रचनाओ पर कुछ न कुछ पौराणिकता की छाप लगी हुई पायी जाती है, किंतु प्रेमगाथाओ मे चित्रित वातावरण कुछ अधिक परिचित-सा है ।

बौद्ध सिद्ध कवियों में से कई एक ने 'चर्यापदों' की रचना की है और कुछ ने दोहे भी लिखे है जिनके संग्रह 'दोहाकोष' कहे जाते है । परिशुद्धा-

---

[1] 'विश्वभारती पत्रिका' (शांतिनिकेतन) खं० ५ अं० २ (अप्रैल, जून, १९४६ ई०)

वधूतिका नैरात्मा को योगिनी का नाम देकर, उसे संबोधित करते हुए, सिद्ध गुंडरीपा ने एक स्थलपर इस प्रकार कहा है :—

जोइनि तँइ बिनु खनहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमलरस पिवमि ॥[1]

अर्थात् अय योगिनी, मैं तेरे बिना क्षणमात्र भी जीवित नहीं रहता और तेरे ही चुंबन द्वारा मैं कमलरस अर्थात् उष्णीष कमल के मधुमय रस का परमार्थवत् आस्वादन किया करता हूँ। इसी प्रकार अन्यत्र सिद्ध शबरपा ने भी उसी प्रेमपात्री के विषय में कहा है :—

सुन नैरामणि कण्ठे लइया महासुहे राति पोहाइ।

अर्थात् शबर शून्यमयी नैरात्मा का आलिंगन करके महासुख की अवस्था मे प्रवेश कर जाता है और इस प्रकार सारी रात व्यतीत हो जाती है अर्थात् क्लेशान्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। सिद्ध कण्हपा ने अपने 'दोहाकोष' में उसी प्रियतम को कभी 'तरुणी' और कभी 'घरिणी' नाम दिया है और उसके प्रति कहा है :—

तो विणु तरुणि णिरन्तर णेहें।
वोहि कि लब्भइ एण वि देहें॥२९॥[2]

अर्थात् अय तरुणि, तेरे प्रति बिना निरंतर प्रेम प्रकट किये इस शरीर से बोधि की उपलब्धि नहीं हो सकती, असंभव है। इसके सिवाय वे फिर इस प्रकार भी कहते हुए दीख पड़ते हैं :—

---

[1] 'चर्यापद' ४ (डा० बागची का संस्करण, कलकत्ता, पृ० ११०)

[2] वही, सं० २८, पृ० १३३

कण्हपा का 'दोहाकोष' (डा० बागची का संस्करण, कलकत्ता) पृ० ४५

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरिणि लइचित्त ।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित ॥३२॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार पानी में नमक विलीन हो जाता है उसी प्रकार यदि अपना चित्त घरिणी के प्रेम में मग्न हो जाय तो उसी क्षण समरस की अवस्था आ जाती है, यदि वह सदा बनी रहे। प्रसिद्ध है कि ये सिद्ध लोग, नैरात्मा देवी की उपलब्धि के लिए साधना करते समय, स्त्रियों को अपनी 'मुद्रा' बनाकर भी रखा करते थे ।

परंतु लौकिक प्रेम का शुद्ध रूप हमें इन सांप्रदायिक साधकों की रचनाओं में नहीं मिलता। वह अधिकतर काम-वासना मूलक जान पड़ता है तथा उसमें भी उनकी मनोवृत्ति वैसी विकसित हुई प्रतीत नहीं होती। लौकिक प्रेम के विशुद्ध उदाहरणों के लिए हम उन कवियों की ही रचनाएं दे सकते हैं जिन्होंने उनमें किसी प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया है। मुल्तान प्रदेश का अब्दुर्रहमान कवि (विक्रम की १२ शताब्दी) ऐसे ही व्यक्तियों में था। उसने अपनी रचना 'संनेह रासय' (संदेश रासक) में किसी ऐसी स्त्री की चर्चा की है जिसका पति व्यवसाय के निमित्त विदेश चला गया था। पत्नी अपने पति के प्रति स्वभावतः प्रेमभाव रखती थी और उसके वियोग में , प्रोषित पतिका के रूप में, अपने विरह-भाव को प्रकट करती थी। अब्दुर्रहमान ने उसके द्वारा अपने पति के पास एक पथिक से प्रेम-संदेश भिजवाया है और उसका वर्णन भी किया है। वह स्त्री उस पथिक से कहती है—

जसु णिग्गमि रेणुक्करडि, कोअण विरह ववेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ, तसु णिट्ठुरइ मणेण ॥६९॥[2]

---

[1] कण्हपा का 'दोहाकोष' (डा० बागची का संस्करण, कलकत्ता) पृ० ४६
[2] 'संदेशरासक' (भारतीय विद्या भवन, बम्बई) पृ० २८

अर्थात् जिस प्रियतम के विदेशगमन ने मुझे जलाकर भस्म तक नहीं कर डाला उसे मैं, इस निष्ठुर हृदय के साथ, किस प्रकार संदेश भेजूं? (मुझे ऐसा करते समय संकोच हो रहा है।) फिर भी वह कहती है—

तइया निवडंत णिवेसियाइं, संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया॥९३॥[1]

अर्थात् (हे प्रियतम, इसके पहले जब हम तुम एक साथ रहा करते थे, उस समय) हम दोनों के गाढ़ालिंगन में (सदा पहना जानेवाला) हार तक बाधा नहीं पहुँचा पाता था, किंतु अब (ऐसी स्थिति आ गई कि) समुद्र, नदियाँ, पहाड़, वृक्ष एवं दुर्ग हम दोनों के बीच अंतर डाल रहे हैं। वह फिर आगे कहती है—

जइ अंवरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहउ अंगु होइ आभंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणि भिट्टियइ,
पिय विरत्तु हुइ चित्तु पहिय किमु वट्टियइ॥१०१॥[2]

अर्थात् यदि किसी कपड़े का रंग छूट जाय तो वह फिर से रँग दिया जा सकता है, यदि किसी का शरीर (तैल मर्दनादि न किये जाने के कारण) रूखा हो गया हो तो उसे फिर तैलाभ्यंग से चिक्कन बनाया जा सकता है, यदि किसी का द्रव्य खो गया हो तो (अर्थात् द्यूतादि द्वारा जीत लिया गया हो तो) उसे (फिर से जीत कर) पूरा किया जा सकता है, किन्तु यदि प्रियतम का चित्त विरक्त हो गया हो तो क्या उसमें परिवर्त्तन लाया जा सकता है? (हे पथिक, मुझे तो प्रतीत हो रहा है कि यह सभव नहीं है।)

इसी प्रकार अब्दुर्रहमान के ही समसामयिक अथवा कदाचित् कुछ

---

[1] 'संदेशरासक' (भारतीय विद्याभवन, बंबई) पृ० ३९

[2] वही, पृ० ४०

परवर्त्ती आचार्य हेमचन्द्र (सं० ११४५-१२३०) की रचना 'सिद्ध हेमचन्द्रानुशासन' में भी हमें उक्त लौकिक प्रेम वा विरह को प्रकट करनेवाले कई पद्य संग्रहीत मिलते हैं। उसमें उद्धृत एक दोहे द्वारा किसी प्रेमिका के उलझे हुए हृदय की दशा का परिचय इस प्रकार दिलाया गया है:—

पिय संगमि कउ निद्दड़ी, पिअहो परोक्खहो केव।
मइ विन्निवि विन्नासिआं, निद्द न एवँ न तेंव ॥४१८॥[1]

अर्थात् किसी प्रेमिका को अपने प्रियतम के संयोग में नींद कहाँ ? और फिर वह उसके परोक्ष रहते भी क्योंकर आ सकती है ? मैं तो दोनों ही प्रकार से गई (नष्ट हुई)—मुझे नींद न तो इस प्रकार (उसके संयोग में) आती है न उस प्रकार उसके वियोग में ही। एक ऐसा ही उदाहरण उनके प्राकृत व्याकरण में इस प्रकार का भी है, जैसे,

वाह-विछोड़वि जाहि तुँह, हउँ तेवइँ को दोसु।
हिअयट्ठिउं जइँ नीसरहि, जाणउं मुंज स रोसु ॥४३९॥[2]

अर्थात् हे प्रियतम, यदि तुम मुझसे बाँह छुड़ाकर चले जा रहे हो तो भी मैं उसी दशा में रहूँगी—इसमें कोई हानि नहीं। हाँ, यदि तुम मेरे हृदय प्रदेश से बाहर निकल सको तभी मैं समझूँगी कि तुम, वास्तव में, रूठ गये हो। (और मै सचमुच दुःख का अनुभव करने लगूँगो।)इस दोहे में जो 'मुज' शब्द है उसके कारण अनुमान किया जाता है कि यह प्रसिद्ध राजा भोज के चाचा मुज (विक्रम की ११ वीं सदी) की रचना है और उसने अपनी प्रेमिका की ओर से कहलाया है। कहा जाता है कि राजा मुंज ने

---

[1] 'हिन्दी काव्यधारा' (राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद पृ० ३७८ पर उद्धृत

[2] वही, पृ० ३७८

जब तैलंग देश पर चढ़ाई की थी तो वहाँ के राजा तैलप ने उसे अपने यहाँ बन्दी बना लिया था और इस प्रकार उसे कुछ दिनों तक बन्दीगृह में रहना पड़ा था। ऐसे ही समय तैलप की बहन मृणालवती को मुंज के साथ प्रेम-संबंध हो गया था जिसके प्रसंग में यह दोहा रचा गया है।

इसी प्रकार सोमप्रभ सूरि (विक्रम की १३ वीं शताब्दी) की रचना कुमार पाल प्रतिबोध' में आये हुए एक दोहे में भी किसी प्रेमिका की विरह-जनित व्यग्रता का चित्रण इस प्रकार किया गया दीख पड़ता है—

पिय ! हउँ थक्किय सयलु दिणु, तुअ विरहग्गि किलंत।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय, तल्लो विल्लि करंत ॥२६॥[१]

अर्थात् हे प्रियतम, मै तेरी विरह-ज्वाला के मारे सारा दिन इस प्रकार तड़पती रह गई जिस प्रकार थोड़े जल में पड़ी हुई मछली तलफती और छटपटाया करती है, मुझे क्षणमात्र के लिए भी चैन नहीं मिल सका। सोमप्रभ सूरि आचार्य हेमचन्द्र की भाँति जैनधर्मी थे और इन दोनों कवियों की रचनाओं में प्रेम संबंधी फुटकर कविताएँ ही उपलब्ध हैं। इनसे पहले नवीं शताब्दी के अन्तर्गत, एक अन्य जैन धर्मी कवि स्वयंभू थे जिन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम के विषय की चर्चा उसे कतिपय घटनाओं के प्रसंग में लाकर की है। स्वयंभू कवि, संभवतः, कोसल प्रदेश के निवासी थे, किन्तु वे पीछे दक्षिण की ओर भी चले गए थे और उन्होंने राम और कृष्ण के चरित्रों का भी वर्णन किया था। उनके 'पउचिमरउ' (रामायण) के राम और सीता, 'रामचरितमानस' के श्री रामचन्द्र और सीताजी की भाँति अवतारी व्यक्ति नहीं जान पड़ते, दोनों रचनाओं की कथाओं में भी एक स्थल दूसरे के ठीक समान नहीं है। उसमें एक प्रसंग ऐसा आया है जहाँ राम को सीता की सुन्दर प्रतिच्छवि दिखलाई गई है जिसे देखकर

---

[१] **'हिन्दी काव्यधारा' (राहुल सांकृत्यायन, किताबमहल, इलाहाबाद) पृ० ४१६**

वे काम पीड़ित हो गए हैं और उनकी दशा दशमावस्था तक पहुँच गई है।
स्वयंभू कवि कहते हैं—

दिट्ठजं जे पडपडिम कुमारें। पंचहि सरहि विद्धुणं मारें।।
सुसिय वयणु घुम्मइय णिडालउ। वलिय अंगु मोडिय भुय डालउ।।
वद्ध केसु परकोडिय वच्छउ। दरिसाविय दस कामावत्थउ।।
चित्त पढम थाणंतरे लग्गइ। वीयएं पिय-मुंह-दंसणु मग्गइ।।
तइयएं ससइ दीहुणीसासें। कणइ चउत्थइ कर विण्णासें।।
पंचम डाहें अंगुण वुच्चइ। छट्ठइ मुहहोण काइ विरुच्चइ।।
सत्तमि थाणेण गासु लइज्जइ। अट्ठमे गमणू माएहि भिज्जइ।।
णवमए पाण-संदेह हो ढुक्कइ। दसमए मरइण केमवि चुक्कइ।।

कहिउ णरिंवहो किंकरिंहि, पहु दुक्करु जीवइ पुत्तु तव।
हा तेहि वि कण्णह कारणेण, सो दसमी कामावत्थ गउ।।९।।[1]

अर्थात् सीता की प्रतिच्छवि को देखते ही युवक राम को जैसे कामदेव ने अपने पंचशर से घायल कर दिया। उसका मुख सूख गया। सिर घूमने लगा, शरीर काँपने लगा, भुजाएँ मुड़ने लगीं और उसके बाल बद्ध हो गए तथा उसकी छाती में मरोड़ की-सी पीड़ा होने लगी। उसने दशों प्रकार की कामावस्था प्रदर्शित की। उसका चित्त, सर्व प्रथम, उचट गया, दूसरे उसकी अभिलाषा प्रेमास्पद के दर्शनों के लिए बढ़ गई, तीसरे वह दीर्घ निःश्वास लेने लगा, चौथे वह कर-विन्यास में प्रवृत्त हो गया, पांचएं शरीर दाह के कारण उसकी वाणी अवरुद्ध हो गई, छठएं वह मुख से किसी को भी नहीं देखने लगा, सातएं उसने यथा-स्थान ग्रास लेना छोड़ दिया, आठएं वह गमन के उन्माद करने लगा, नवें

---

[1] **'हिंदी काव्यधारा' (राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद) पृ० ६०-२**

उसके प्राण संदेह में पड़ गए और दसएं मानों ठीक मरण दशा आ गई। इसलिए दासियों ने महाराज से कहा कि तुम्हारे पुत्र का जीना महा कठिन है। हाय, उस कन्या के ही कारण, यह दशमावस्था को प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार स्वयंभू ने सीता के विरह का भी वर्णन किया है और प्रायः सर्वत्र परम्परागत रचना शैली का ही अनुसरण किया है।

स्वयंभू कवि की ही भाँति पुष्पदंत नामक एक अन्य जैन कवि ने भी राम-कथा का वर्णन अपने 'महापुराण' में किया है और उसमें स्वयंभू को स्मरण भी किया है। इस कथा में एक विचित्र बात यह दीख पड़ती है कि इसमें हनुमान को कामदेव का अवतार मान लिया गया है। उस कामदेव की मूर्ति हनुमान को देख कर लंका की नारियाँ उस पर मोहित हो जाती हैं जिसका चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है:—

जोइवि कुसुम सरुणारीयणु असेसुवि खुद्धउ।
कंपइ परिससइ हसइ व वहुणेहणि वद्धउ॥
कंदप्प सुरविणं णिएवि चित्तचोरं।
कावि देइ संकंकणं चारुहारोदरं॥ (महापुराण)

अर्थात् उस कामदेव रूपी हनुमान को देख कर वहाँ की सारी स्त्रियाँ अत्यंत प्रेम-विह्वल हो गई। वे काँपने लगी, श्वास-प्रश्वास छोड़ने लगीं और हँसने लगीं तथा उस चित्तचोर को कोई-कोई अपना कंकण देने लगीं और कोई-कोई अपना सुन्दर हार समर्पित करने लगीं। पुष्पदंत ने अपनी 'णाय-कुमार चरिउ' नामक एक अन्य रचना में, इसी प्रकार, उसके नायक नाग-कुमार को ही कामदेव का अवतार बनाया है। परंतु इस कृति में तथा उनके 'जसहर चरिउ' में भी रचयिता का उद्देश्य अधिकतर धार्मिक ही जान पड़ता है और यही बात धनपाल की 'भविसयत्त कहा' एवं कनकामर मुनि की 'करकंडु चरिउ' द्वारा भी सिद्ध होती है।

स्वयंभू कवि तथा पुष्पदंत की उपर्युक्त उद्धृत रचनाओं के निर्माण का

उद्देश्य शुद्ध धार्मिक वा साम्प्रदायिक नहीं जान पड़ता। कई अन्य जैन धर्मी कवियों ने धर्म कथाओं की रचना की है अथवा प्रेम-कथाओं के भी प्रसंगों में उन्होंने धार्मिक बातों का ही समावेश कर दिया है। उदाहरण के लिए इन कवियों द्वारा लिखी गई जो सदय वत्स और सावलिंगा की प्रेम कथा मिलती है उसमें उन्होंने सदय वत्स के ऊपर क्रमशः पड़ते गए श्रावकधर्म के प्रभावों का वर्णन किया है और अंत में, उसे उन्हींके कारण स्वर्ग की प्राप्ति भी करा दी है। इस प्रेम-कथा के रचनाकाल तक हिंदी के आदि-कालीन अपभ्रंश रूप में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका था। वह अपने निजी रूप को क्रमशः ग्रहण करती जा रही थी और वह उस दशा तक पहुँच चुकी थी जिसे 'राजस्थानी हिंदी' का नाम दिया जाता है। इस समय की उपलब्ध रचनाओं को देखने से अनुमान होता है कि हिन्दी के इस रूप का प्रयोग, उसके अपभ्रंश काल के अनंतर, विक्रम की १४ वीं शताब्दी से लेकर उसकी १५ वीं के अंत तक, विशेष प्रकार से होता रहा। इन दो शताब्दियों के अंतर्गत चारणों एवं भाटों की कोटि के कवियों ने काव्य-रचना में विशेष भाग लिया। उन्होंने वीररस के अनेक प्रशंसात्मक ग्रंथों की रचना की, किंतु फिरभी वे शृंगाररस का सर्वथा परित्याग नहीं कर पाये तथा, लगभग इसी काल के भीतर, उन्होंने कतिपय ऐसी रचनाएँ भी कर डालीं जो प्रेम कहानियों के रूप में थीं।

इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रेम विषयक रचना 'ढोला मारूरा दूहा' है, जिसका रचयिता कोई 'कल्लोल' नाम का कवि समझा जाता है। इसमें एक प्रेम कहानी दी हुई है जिसके द्वारा प्रेम, विरह, सौतिया-डाह, कष्टानुभूति जैसे प्रासंगिक विषयों की चर्चा बड़े अच्छे ढंग से की गई है। ढोला नरवर देश के नल राजा का पुत्र है और मारू पूगल देश के राजा पिंगल की पुत्री है। पूगल से आकर पिंगल एक बार नरवर के निकट सपरिवार ठहरते हैं और उनकी रानी वहाँ पर ढोला का सौंदर्य देख कर उसके साथ अपनी पुत्री के विवाह की चर्चा छेड़ देती है जिसके अनुसार दोनों की

विवाह-विधि सम्पन्न हो जाती है। परंतु मारू की अवस्था उस समय केवल डेढ़ वर्ष की ही रहती है और ढोला भी केवल तीन वर्ष का रहता है, इस कारण, पिंगल वापस जाते समय अपनी पुत्री को घर लेते जाते हैं। दोनों बच्चों में से किसी को भी अपने विवाह की स्मृति नहीं रह जाती और इधर ढोला का एक दूसरा विवाह भी मालवणी के साथ हो जाता है। मारू के बड़ी हो जाने पर पिंगल की चिन्ता बढ़ती है और वे ढोला को बुलाने के लिए कई बार दूत भेजते हैं, किंतु इधर मालवणी उनका संदेश ढोला तक पहुँचने नहीं देती और सौतिया-डाहवश षड्यंत्र कर दिया करती है। पिंगल को इसी बीच पता चल जाता है कि ढोला का दूसरा विवाह भी हो चुका है इसलिए वे कुछ ढाढियों को मारू के संदेश के साथ फिर वहाँ भेजते हैं। ढाढी किसी प्रकार ढोला के महल तक पहुंच जाते हैं और उसके नीचे डेरा डाल कर रात्रि के समय मारू का प्रेम संदेश गाते हैं। ढोला उनके गान को सुन कर व्याकुल हो उठता है और उन्हें यथायोग्य उत्तर और इनाम देकर विदा कर देता है।

उसी समय से ढोला पूगल की ओर प्रस्थान करने की चेष्टा में लग जाता है, किंतु मालवणी उसे अनेक प्रकार से रोकती जाती है। अंत में वह एक रात को चुपके-चुपके चल पड़ता है और मालवणी द्वारा भेजे गए तोते की भी बात न मान कर आगे बढ़ता जाता है। ढोला को बहकाने के लिए फिर एकाध प्रकार के अन्य प्रयत्न भी होते हैं, किंतु वह किसी बात से भी प्रभावित नहीं होता। वह पूगल पहुँच जाता है जहाँ उसका पूरा स्वागत-सत्कार होता है और पंद्रह दिनों तक वहाँ पर रह कर वह मारू के साथ घर लौटता है। उसे फिर वापस आते समय भी, बाधाओं का सामना करना पड़ता है। मार्ग में मारू को साँप काट लेता है और वह मर जाती है, किंतु किसी योगिनी और योगी के प्रयत्नों से वह फिर से जी उठती है,और, इसी प्रकार, वह एक शत्रु से भी बच निकलता है। ढोला और मारू, अंत में, नरवर सकुशल पहुँच जाते हैं और दोनों का स्वागत बड़ी धूमधाम के साथ होता है।

फिर ढोला अपनी दोनों पत्नियों के साथ अपना जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करता है और यहीं तक आकर कथा समाप्त हो जाती है। 'ढोला मारूरा दूहा', इस प्रकार, विशुद्ध लौकिक प्रेम की कहानी है और इसे संयोगांत रूप भी दिया गया है।

'ढोला मारूरा दूहा' में प्रेमभाव सर्वप्रथम नायिका मारू की ओर से ही प्रकट होता हुआ दीख पड़ता है जो भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुकूल है। घटना-प्रवाह में प्रेमिका के साथ प्राकृतिक वस्तु एवं पशु-पक्षी तक सहानुभूति प्रदर्शित करते जान पड़ते हैं और एकाध अवसरों पर उसे अलौकिक वा अतिप्राकृतिक साधनों से भी सहायता मिल जाती है। परन्तु, प्राचीन वर्णन-शैली के कारण अनेक अत्युक्तियों तक के आ जाने पर भी इस रचना में ऐसे स्थल बहुत कम आये हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होते हों अथवा जहाँ किसी पात्र की सचाई में संदेह किया जा सके। कहानी के नायक एवं नायिका के प्रेमभाव की विशेषता उनकी सरलता तथा संयम और स्वाभाविकता में लक्षित होती है। इस रचना में आया हुआ मारू का विरह-वर्णन किसी प्रेमिका के प्रेमोन्माद भरे उद्‌गारों का एक बहुमूल्य कोष प्रतीत होता है और उसका अपने प्रियतम के प्रति ढाढियों द्वारा भेजा गया प्रेम-संदेश किसी आर्त्त रमणी हृदय की आवेग भरी द्विरुक्तियों का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जान पड़ता है कि उस प्रेमिका को पूर्णतः प्रेमाभिभूत पाकर उसका प्रत्येक अंग मनोवेगों के व्यक्तीकरण में लग जाता है, क्योंकि उक्त ढाढियों के हाथ जब वह अपना संदेश भेजने लगती है तो उसकी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं, वह पैर की उँगलियों से नीचे की धरती कुरेदने लगती है और अपने दिये हुए पत्र को भी फिर एक बार वापस लेकर उसे उलटने-पलटने लग जाती है तथा, अंत में, मुक्तकंठ से विलाप कर के ही वह उसे दे पाती है। कवि का कहना है कि मारू का हृदय तक आँसुओं से भर जाता है और वह पत्र की बातों को कदाचित्, अपूर्ण वा अनुपयुक्त समझ कर उन्हें बार-बार संशोधित करती रहती है तथा वह अपनी

बेबसी पर विलाप करती हुई ही उस पत्र को दे पाती है। जैसे,

पंथी हाथ सँदेसडइ, धण विललंती देह।
पगसूं काढइ लोहटी, उर आंसुआं भरेह ॥१३७॥[1]
भरइ, पलट्टइ, भी भरइ, भी भरि, भी पलटेहि।
ढाढी हाथ संदेसड़ा, धण विललंती देह ॥१८२॥[2]

इसी प्रकार कवि ने एक अन्य स्थल पर ढोला के दूसरे विवाह की पत्नी मालवणी की भी प्रेमदशा का इस प्रकार वर्णन किया है--

ढोलउ हल्लाणउ करइ, धण हल्लिवा न देह।
झब झब झूंबइ पागड़इ, डबडब नयण भरेह ॥३०४॥
हल्लउँ हल्लउँ मत करउ, हियड़इ सालम देह।
जे साचे ई हल्लस्यउ, सूतां पल्लाणेह ॥३०५॥[3]

अर्थात् ढोला जब, पिंगल के यहाँ जाकर मारू से मिलने के लिए, तैयार हो गया और वह ऊँट पर चढ़ने के लिए रिकाब पर पैर रखने लगा तब मालवणी ने उसे किसी प्रकार रोक रखने के प्रयत्न किये। वह जैसे चलने की करता तैसे वह प्रेमिका उसे ज्यों-त्यों करके रोक लेती ओर उस पर अपना प्रेमभाव प्रकट कर उसे जाने नही देती। वह ऊँट की रिकाब पकड़ कर झूमने-सी लगती और आँसू डबडबा कर, उसके नेत्रों में, भर आते वह उससे कहती है कि हे प्रियतम ! 'चलता हूँ, चलता हूँ' की चर्चा न छेड़ो और न मेरे हृदय पर साल से आघात पहुँचाओ। देखो, यदि सचमुच चले ही जाओगे तो, ऐसा मेरी आँखों के सामने न करके, जब मैं सो रही हूँ

---

[1] **'ढोलामारूरा दूहा' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) पृ० ४२**
[2] **वही, पृ० ५६**
[3] **वही, पृ० ९८**

उस समय ऊँट पर पलान कसना अर्थात् प्रयाण करना। मालवणी को दृढ़ विश्वास हो गया है कि ढोला बिना प्रस्थान किये नहीं मान सकता फिर भी वह ऐसा अपने सामने नहीं होने देना चाहती।

कवि ने मारू द्वारा भेजे गए प्रेम-संदेश को, ११२ वें दोहे से लेकर १८२ वें तक में स्थान दिया है। किंतु वह ठीक इसके पहले ही कह देता है कि प्रेम-संदेश किसी प्रेमिका के मनोगत भावों को तभी स्पष्ट कर सकता है जब उसे पहुँचाने वाला भी उसे कह सके :—

संदेसा ही लख लहइ, जउ कहि जाणइ कोइ।
ज्यूं धणि आखइ नयण भरि, ज्यँउ जइआखइ सोइ ॥१११॥[1]

अर्थात् प्रेम-संदेशों द्वारा ही प्रेमिका के मन की दशा जानी जा सकती है, यदि उन्हें कोई ठीक-ठीक व्यक्त कर सके—जिस प्रकार वह आँसुओं से आँखें भर कर उन्हें ले जाने वाले के प्रति प्रकट करती है उसी प्रकार यदि वह भी उसके प्रेमास्पद के सामने रखे। हृदय के गंभीर भावों को शब्दों द्वारा ही व्यक्त कर देना सरल नहीं; उसके साथ-साथ कुछ शारीरिक चेष्टाएं भी होनी चाहिए।

प्रेमिका मारू अपने प्रेम-संदेश में बहुत-सी बातें भर कर भेजना चाहती है, किंतु वह सभीको भलीभाँति प्रकट नही कर पाती। जिन दोहों द्वारा उसके भावों को व्यक्त करने की, कवि ने, चेष्टा की है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

हियडइ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख ॥१५८॥
अकथ कहाणी प्रेम की, किणसूं कहो न जाइ।
गूंगा का सुपना भया, सुमर सुमर पिछताइ ॥१५९॥[2]

---

[1] 'ढोलामारूरा दूहा' (ना० प्र० स०, काशी) पृ० ४९
[2] वही, पृ० ३४

तुँही ज सज्जण, मित्त तूं, प्रीतम तूं परि वाँण।
हियड़इ भीतर तूं बसइ, भावइँ जाँण म जाँण ॥१७५॥[1]
यहु तन जारी मति करूँ, धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, वरसि बुझावइ अग्गि ॥१८२॥[2]

अर्थात् हे प्रियतम, तू मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर एक प्रकार के वृक्ष-सा उगा हुआ है। वह वृक्ष नित्य सूखता और नित्य ही पल्लवित भी होता रहा करता है जिस कारण मुझे नित्य नये-नये दुःख देखने पड़ते हैं। प्रेम की अकथनीय कहानी किसी से कहते नहीं बनती; वह किसी गूंगे के उस स्वप्न की भाँति हो गई है जिसे वह स्मरण कर करके पछताया करता है। तूही मेरे लिए सज्जन है, तूही मित्र है और तूही, निश्चित रूप से, मेरा प्रियतम भी है। तू मेरे हृदय में सदा निवास करता है, चाहे इस बात को, मुझमे विश्वास करके, तू मान चाहे न मान। मैं तो चाहती हूँ कि इस शरीर को जलाकर मैं कोयले का भस्म कर डालूँ और उसका धुआँ सीधे आकाश तक पहुँच जाय; मेरा प्रियतम बादल बन कर बरसे और यह आग बुझा दे।

मारू के हृदय मे प्रेम का भाव, सर्वप्रथम, उस समय जागृत हुआ जब उसने ढोला को स्वप्न में देखा। उसका विवाह ढोला के साथ हो चुकने पर भी उस काल की उसकी शैशवावस्था वाली क्षीण स्मृति इसके लिए अपर्याप्त थी। इस कारण स्वप्न के अनंतर उसका उत्कट पूर्वराग देख कर उसकी सखियों को महान् आश्चर्य हुआ जिसका समाधान मारू ने इस प्रकार किया है—

जे जोवण जिन्हाँ-तणाँ, तनही माँहि वसंत।
धारइ दूध पयोहरे, बालक किम काढंत ॥२१॥
ससनेही समदां परइ, वसत हिया मंझार।
कुसनेही घर आँगणई, जाण समदाँ पार ॥२२॥

---

[1] 'ढोलामारूरा दूहा' (ना० प्र० स०, काशी) पृ० ५४
[2] वही, पृ० ५५

सखिए सज्जण वल्लहा, जइ अणदिट्ठा तोइ।
खिण खिण अंतर संभरइ, नहीं विसारइ सोइ ॥२३॥[1]

अर्थात् जो जिसके लिए जीवनस्वरूप है वह उसके हृदय में वा शरीर में ही निवास करता है। पयोधरों वाली दूध की धाराओं को बालक (अपने जीवनस्वरूप ही समझता है, इस कारण, वह उन्हें उनमें से) कैसे निकाल लेता है! अर्थात् निकाल लेता ही है। सच्चा प्रेमी समुद्र पार होने पर भी हृदय में बसता है और कपटी स्नेही घर के आँगन में रहता हुआ भी समुद्र के पार बसा करता है। अतएव, हे सखियो, यदि प्यारा साजन नहीं भी देखा हुआ है फिर भी मेरा हृदय उसे प्रतिक्षण स्मरण करता है और नहीं भूल पाता।

'ढोला मारूरा दूहा' अपनी सुंदर कहानी के कारण, राजस्थान में अत्यन्त लोकप्रिय है और[2] इसके 'ढोला मारूवणी दूहा', 'ढोला मारूरी वात', 'ढोला मारूई चउपई', 'श्री ढोला मारूजीरी वार्त्ता', 'ढोला मारवणीरी चौपई वात' जैसे दर्जनों रूप देखने को मिलते हैं। इसकी प्रसिद्धि राजस्थान प्रदेश एवं मध्यभारत में बहुत दिनों से लोकगीत के रूप में रही है और यह वहाँ की सामाजिक मनोदशा का एक जीता-जागता प्रतीक अथवा वहाँ का जातीय काव्य-सा माना जाता रहा है। इसके बहुत से दूहे वहाँ की जनता के जिह्वाग्र पर पाये जाते हैं और इस काव्य की घटनाओं को लेकर अनेक चित्रों और चित्र-मालाओं तक की रचना हो चुकी है।[3] इसकी प्रेमकथा का कोई ऐतिहासिक आधार भी बतलाया जाता है जो लगभग सं० १०००

---

[1] 'ढोला मारूरा दूहा' (ना० प्र० स०, काशी) पृ० ८

[2] पंजाब में भी इसी प्रकार पुष्प कवि की लहंदो प्रेम कहानी 'ससि पुन्नों' प्रसिद्ध है।—ले०

[3] वही, (प्रस्तावना) पृ० ९

की घटना है। 'ढोला मारूरा दूहा' की रचना का समय अधिक से अधिक सं० १४५० तक माना जा सकता है, किंतु इस विषय को लेकर इसके पीछे भी रचनाएं हुई हैं। लगभग इसी प्रकार की शैली में लिखा गया एक अन्य प्रेम-कहानी का भी ग्रंथ मिलता है जो 'माधवानल प्रबन्ध दोग्ध बन्ध' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसकी रचना किसी नरसा पुत्र गणपति ने सं० १५८४ के आसपास की थी। इस माधवानल की कथा को भी बहुत से हिंदी कवियों ने अपनी काव्य-रचनाओं का विषय बनाया है।

प्रेम-कहानी का विषय लेकर हिंदी में की गई इस काल की अन्य काव्य-रचनाओं में कतिपय 'रासो' ग्रंथों की भी चर्चा की जा सकती है। ये 'रासो' ग्रंथ अधिकतर किसी न किसी राजा वा सामंत के नाम पर, उसके गुणगान में लिखे गए, जान पड़ते हैं और इनमें कभी न कभी किसी सुंदरी के प्रति प्रकटित उसके प्रेमभाव तथा उसे अपनाने के लिए किये गए उसके युद्धादि के विस्तृत वर्णन भी पाये जाते हैं। ऐसी रचनाओं में शृंगार-रस के साथ वीररस वाली घटनाओं की भी प्रधानता रहती है, किंतु दोनों समान अनुपात में नहीं होतीं। किसी-किसी में युद्धादि के वर्णन और उनके द्वारा कथानायक का शौर्य-प्रदर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं और उनके आगे उस प्रेमकथा की गति मंद पड़ जाती है जो उन सारी बातों का मूल कारण रहा करती है तथा जिससे उन्हें प्रेरणा भी मिली रहती है। 'पृथ्वीराज रासो' इसी प्रकार की एक रचना है जो चंद बरदायी कवि की कृति मानी जाती है। इसमें प्रमुखतः दो भिन्न-भिन्न प्रेम-प्रसंगों का समावेश किया गया है और उनके कारण होने वाले युद्धों का भी वर्णन है। पहला ऐसा प्रसंग दिल्लीपति पृथ्वीराज और कन्नौज के महाराज जयचंद की पुत्री संयोगिता के प्रेम-संबंध का उल्लेख करता है और दूसरे प्रसंग में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी और किसी पठान सरदार की प्रेमिका चित्ररेखा के प्रेम की चर्चा है। ये दोनों ही लौकिक प्रेम के उदाहरण हैं। किंतु इनके आधार पर निर्मित कहानियों में प्रेम का भाव ऊँचे स्तर का नहीं प्रतीत होता है। वह कामवासना

रंजित-सा है। इसी प्रकार इस काल की एक अन्य ऐसी रचना 'वीसलदेव रासो' में भी हमें प्रेमकाव्य का सफल रूप नहीं दीख पड़ता। यह रासो ग्रंथ नरपति नाल्ह की कृति है और इसमें वीसलदेव तथा उसकी पत्नी राजमती के प्रेम का प्रसंग आता है। इस रचना के तृतीय सर्ग में जगन्नाथपुरी की ओर प्रवासित हो गए वीसलदेव के प्रति उसकी पत्नी राजमती अपना विरहभाव व्यक्त करती है जिसके वर्णन में कवि अधिकतर परंपरा-पालन का ही प्रयत्न करता जान पड़ता है। उसका मनोवैज्ञानिक परिचय वह नहीं दे पाया है।

३. मध्यकालीन शृंगार काव्य और सूफ़ी काव्य

हिंदी-साहित्य के इतिहास का आदिकालीन, अपभ्रंश काल विक्रम की आठवीं शताब्दी से लेकर उसकी तेरहवी तक स्थूलतः समझा गया है। उसी प्रकार, उसके दूसरे युग की सीमा लगभग पंद्रहवी तक चली आती है जिसमें राजस्थानी का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अंत तक हिंदी भाषा का रूप निखर कर बहुत कुछ स्थिर हो जाता है और उसके साहित्य में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जिनके कारण उसके वर्ण्य विषय, रचना-शैली, भाषा तथा सांस्कृतिक स्तर तक में महान् परिवर्त्तन दीख पड़ने लगता है। हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल इसी समय से आरंभ होता है जो लगभग बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल तक बना रहता है। इस प्रायः पांच सौ वर्षो के समय मे भी दो भाग किये जाते हैं जिनमें से प्रथम को, उसकी मुख्य प्रवृत्तियों के अनुसार, 'भक्तिकाल' का नाम दिया जाता है और द्वितीय को 'रीतिकाल' कहा जाता है जो वस्तुतः उसमें उपलब्ध कलापक्ष की प्रवृत्ति विशेष का सूचक है।

विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तक उत्तरी भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की विचार-धाराएं शक्ति ग्रहण करने लगी थीं। आठवीं शताब्दी के आसपास जो बौद्ध धर्मानुयायी वज्रयानियों की तांत्रिक साधना चल रही थी उसमें क्रमशः कई परिवर्त्तन हुए। स्वामी शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रभाव में उसका एक रूप नाथ-पंथियों के यहाँ दीख पड़ा तथा फिर नाथ-पंथ की विचार-धारा और प्रचलित भक्ति-भाव के संयोग से महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय का उदय हुआ जिसने फिर पन्द्रहवीं शताब्दी के अनंतर पूर्ण प्रसिद्धि पाने वाले हिंदी के संत-काव्य को अनुप्राणित किया। इसी प्रकार

विक्रम की नवीं शताब्दी तक जो भक्ति-साधना, तामिल प्रांत के आडवार भक्तों से आरंभ होकर, प्रचलित हो चुकी थी वह वैष्णवाचार्यों द्वारा भी स्वीकृत की जाने लगी और 'पांचरात्र', 'विष्णु पुराण' तथा स्वामी रामानुजाचार्य के 'श्रीभाष्य' जैसे ग्रंथो के प्रभाव मे उसका एक रूप क्रमश: 'वैधी' भक्ति में परिणत हो गया और दूसरा जिसे विशेषत: 'श्रीभागवत पुराण' से प्रेरणा मिली 'रागानुगा' भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हो गया। भक्ति के इन दोनों ही रूपों ने, पीछे चलकर, हिंदी के उस काव्य-साहित्य को अनुप्राणित किया जो 'कृष्ण-काव्य' तथा 'राम-काव्य' कहलाते हैं।

परंतु हिंदी साहित्य के इतिहास का यह मध्यकाल एक अन्य ऐसी प्रवृत्ति का भी परिचायक है जिसका मूल स्रोत विदेशों मे भी लगा था। विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिस इस्लाम धर्म को हजरत मुहम्मद ने अरब देश में प्रवर्त्तित किया था, उसकी कतिपय बातों की प्रतिक्रिया में, नवी शताब्दी के आसपास, उसके सूफ़ी संप्रदाय की नींव पड़ी और वह क्रमश. भारत की सीमा तक पहुँच गया। इस संप्रदाय की विशेषता इसकी प्रेम-साधना में निहित थी जिसका प्रचार यहाँ तेरहवीं शताब्दी में मुइनुद्दीन चिश्ती से आरंभ हुआ। सूफ़ी-संप्रदाय के अनुयायी पहले अपना प्रचार-कार्य अधिकतर फारसी भाषा द्वारा किया करते थे, किंतु पीछे उन्होंने इसके लिए हिंदी भाषा को भी अपनाया और फुटकर काव्यों तथा विशेषकर प्रेम-गाथाओं की रचना करके, उन्होंने इसके साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति का संचार कर दिया। इसके फुटकर काव्यों की रचना का आरंभ, वस्तुत. विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में वर्त्तमान प्रसिद्ध अमीर खुसरो से ही हो चुका था, किंतु सूफ़ी प्रेमगाथा का सूत्रपात, सर्वप्रथम, उस काल से माना जा सकता है जब कि मुल्ला दाऊद ने सं० १४३६ में अपनी 'चंदायन' का निर्माण किया और तब से उसके अनुकरण में अन्य कवि भी लिखने लगे।

हिंदी साहित्य के इतिहास के इस मध्यकाल में उपर्युक्त तीनों ही प्रवृत्तियों की गति में पूरा वेग रहा। हिंदी काव्य में जो प्रेम का विषय पहले अपने

लौकिक रूप में ही दीख पड़ा था, उसे इस काल में अलौकिक रूप भी मिल गया। इस कारण वह न केवल सूफियों की प्रेमगाथाओं में ही, अपितु संतों की बानियों एव वैष्णव भक्तों के पदों में भी प्रमुख स्थान पाने लगा। 'श्रीभागवत पुराण' के कृष्ण-चरित तथा नारद और शांडिल्य के 'भक्तिसूत्रों' का भी प्रभाव इस समय बहुत काम कर रहा था। इसके कारण हिंदी-काव्य में उस समय प्रेमभाव की दो भिन्न-भिन्न धाराओं की सृष्टि हो गई जिनमें से एक सूफियों द्वारा प्रभावित थी, किंतु दूसरी का रूप लगभग वही रह गया था जो प्रारंभिक फुटकर पद्यों और प्रेमकहानियों में लक्षित हो चुका था और जिस पर अब केवल एक प्रकार की 'अलौकिकता' का रंग चढ़ गया था। हिंदी-काव्य के उस आदिकालीन समय में इसका संबंध सदा शृंगाररस के ही साथ जुड़ा हुआ जान पड़ता था, किंतु इस काल तक आने पर यह शांत रस के भी अनुकूल प्रतीत हुआ जिस कारण कतिपय भक्त आचार्यों ने उन दोनों रसों में सामंजस्य बिठाते हुए एक नवीन 'भक्तिरस' की कल्पना कर डाली। इस 'भक्तिरस' में जहाँ निर्वेदमूलक शांतभाव को स्थान दिया गया वहीं उसे इष्टदेव के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली भक्ति के विविध भावानुसार, दास्यभाव, वात्सल्यभाव, सख्यभाव तथा माधुर्यभाव के भी अनुकूल समझा गया। भक्तिभाव के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किसी भक्त के हृदय में केवल सांसारिक बातों के प्रति विरक्ति के जग जाने पर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही, उदय हो। वह बिना किसी ऐसे प्रारंभिक कारण के भी जागृत हो सकता है और वह उस भक्त के संस्कारानुसार उक्त प्रकार से क्रमशः श्रद्धा, स्नेह वा सौहार्द के आधार ग्रहण करके पूर्ण विकास भी पा सकता है।

दसवीं शताब्दी के आसपास रचे गए 'भागवत पुराण' के दशम स्कंध में, श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते समय, कुछ ऐसी घटनाओं की भी चर्चा की गई थी जिनमें उनके प्रति प्रकट किए गए प्रेम के विभिन्न रूपांतर दीख पड़ते थे। भक्तों का दास्यभाव, माता-पिता का वात्सल्य भाव, सखाओं

का सख्य भाव तथा गोपियो का माधुर्य भाव उनमे प्रधान है। तेरहवी शताब्दी के भक्त कवि जयदेव ने उनमे से अतिम अर्थात् माधुर्य भाव को उदाहृत करते हुए अपनी 'गीतगोविद' नामक रचना प्रस्तुत की जिसमे उन्होने शुद्ध शृगाररस की मनोवृत्ति से काम लिया। उन्होने ऐसा करना किसी कलुषित भाव का द्योतक नही माना, प्रत्युत राधा एव कृष्ण की रहस्यमयी 'केलि' को आध्यात्मिक महत्त्व देकर उन्होने उसकी जय तक मनाई।[१] राधा एव कृष्ण की केलि-क्रीडा अथवा विरह, मान, जैसे भावो का प्रदर्शन यहाँ जयदेव के लिए लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का अर्थ नही रखता। उनके लिए ये दोनो वे दो अलौकिक सज्ञाए है जिनका नित्य प्रेम सारे विश्व का मूलाधार है। परतु, आगे चलकर ये राधा एव कृष्ण शृगारी कवियो के लिए आदर्श नायक और नायिका के प्रतीक मात्र ही रह गए और उनके आधार पर, अलौकिक पात्रो द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले, लौकिक प्रेम के वर्णन की एक परपरा-सी चल निकली।

हिंदी-साहित्य के इतिहास मे इस विषय के उत्कृष्ट उदाहरण, सर्वप्रथम, विद्यापति की 'पदावली' मे मिलते है। विद्यापति वस्तुत मैथिली भाषा के कवि है जिन्हे बगाली लेखको ने बहुत दिनो तक बगला भाषा के कवियो मे गिन रखा था। इनके पदो मे जयदेव की 'गीतगोविद' नामक रचना का अनुकरण पर्याप्त मात्रा मे लक्षित होता है। किंतु फिर भी ये अपने पदो मे जयदेव के समान, एक वैष्णव भक्त कवि के रूप मे, नही दीख पडते। इन्होने श्रीकृष्ण की प्रेमलीलाओ का वर्णन किया है, किंतु, इसके साथ ही इन्होने ऐसे पद भी कुछ कम मात्रा मे नही लिखे है जिनमे उनका प्रसग नही आता। ये दूसरे ढग के पद कृष्ण-केलि के पदो मे इस प्रकार हिलमिल गए है कि कवि की सारी 'पदावली' के नायक कृष्ण ही प्रतीत होते है। नायक और नायिका का, जहाँ एक दूसरे की मनोमोहक छवि देख कर, पूर्वराग जाग्रत

---

१ 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः' गीतगोविन्द

होता है वहाँ हमें राधा एवं कृष्ण का स्मरण हो आता है, और जहाँ मान, विरह अथवा प्रेमालाप के प्रसंग आते हैं वहाँ भी हमें इन्हीं दोनों का अनुमान होता है। इसके सिवाय बहुत से पदों में विद्यापति ने राधा अथवा कृष्ण का नाम लेकर भी स्पष्टतः लौकिक प्रेम का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए राधा की प्रेमोन्माद भरी उच्छृंखलता की ओर संकेत करता हुआ कवि कहता है,

कुल गुन गौरव सति जस अपजस,
तृन करि न मानए राधे।
मनमथि मदन महोदधि उछलल,
बूड़ल कुल मरजादे।[1]

जिससे प्रकट होता है कि वह एक साधारण स्वेच्छाचारिणी परकीया नायिका है, श्रीकृष्ण के नित्य विहार की संगिनी नहीं। इसी प्रकार उन ऐसे स्थलों पर भी जहां पर कोई सखी राधा की ओर से कृष्ण के यहाँ जाकर उसके प्रति उनकी सहानुभूति का भाव जागृत करना चाहती है, कवि ने अधिकतर ऐसी परिस्थितियों का ही चित्रण किया है, जो साधारण समाज में पायी जाती है; जैसे,

माधव, धनि आएलि कत भाँति।
प्रेम हेम परखाओल कसौटी,
भादव कुहु तिथि राति। इत्यादि[2]

जिससे प्रतीत होता है कि वह प्रेमिका उनके यहाँ चोरी-चोरी पहुँचना चाहती है, अतएव इसके आधार पर कहा जा सकता है कि विद्यापति ने

---

[1] श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति पदावली' (सं० १९८२ संस्करण) पृ० १५८

[2] वही, पृ० १४७

ऐसे स्थलों पर राधा एवं कृष्ण को साधारण नायक एवं नायिका मात्र ही माना होगा। विद्यापति की 'पदावली' में इस प्रकार की पंक्तियाँ बहुत कम मिलती हैं जिनमें उन्होंने नीचे लिखे ढंग से, उनकी केलि को महत्त्व दिया हो,

नव जुवराज नवल वर नागरि,
मिलए नव नव भाँति,
निति ऐसन नव नव खेलन,
विद्यापति मति माति।[1]

परंतु फिर भी विद्यापति ने प्रेमभाव के आकस्मिक उदय, उसके स्वरूप, उसकी तीव्रता, व्यापकता और उसके महत्त्व आदि का वर्णन इतनी सूक्ष्मता और सफलता के साथ किया है कि उसके वास्तविक रहस्य की झलक मिले बिना नही रह पाती। कवि विद्यापति एक कुशल कलाकार होते हुए बड़े विद्वान् और अनुभवी व्यक्ति भी थे जिस कारण उन्होंने ऊँचे स्तर से काम किया है। उन्होंने जिस प्रकार इस विषय की गहराई तक प्रवेश पाने की चेष्टा की है उसी प्रकार इसे यथावत् व्यक्त कर देने का भी प्रयास किया है। प्रेम को विद्यापति, रूपासक्ति के रूप में, देखते जान पड़ते है जिसमें प्रेमास्पद का सौंदर्य प्रेमी के हृदय मे, उसकी आँखो के माध्यम से प्रवेश पाता है और उसमे पहुँचते ही उसके सारे शरीर को अपनी ओर पूर्णत: आकृष्ट कर लेता है। प्रेमी की, उक्त सौन्दर्य की ओर, केवल दृष्टि भर पड़ने पाती है। वह उसे भली भाँति देख कर अपनी दशा पर विचार भी नही कर पाता तब तक वह उसके पूर्ण प्रभाव में आ जाता है। विद्यापति के कथनानुसार जिस प्रकार काले-काले मेघो मे अकस्मात् दिखलायी पड कर बिजली उसी क्षण विलीन हो जाती है, किंतु उसकी लुभावनी स्मृति बनी रह जाती है, उसी प्रकार सौंदर्य भी प्रेमी की आँखों मे क्षणिक बन कर ही

---

[1] **श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति-पदावली' (सं० १९८२ संस्करण)** पृ० २३६

आता है, किंतु प्रभाव चिरस्थायी डाल देता है। एक प्रेमिका द्वारा, अपनी सखी के प्रति, उन्होंने इस घटना का वर्णन इन शब्दों में कराया है—

सजनी, भलकए पेखन न भेल।
मेघमाल सँय तड़ित लता जनि,
हिरदय सेल दई गेल।[1]

जिनसे 'सेल दई गेल' द्वारा तड़प और बेचैनी आ जाने का भी भाव सूचित होता है और 'भलकए पेखन न भेल' में निहित पछतावे के कारण उत्पन्न होने वाली दिदृक्षा एवं उत्कंठा का संकेत भी मिल जाता है।

यही उत्कंठा, इस कवि के अनुसार, प्रेमतत्त्व के विकास-क्रम में एक प्रकार की चिरस्थायिनी अभिलाषा वा अतृप्ति बन जाती है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र को कितना भी देखे, उसकी बातें कितनी भी सुने और उसे अपने हृदय से कितना भी लगाये रहे उसे सदा प्रतीत होता रहता है कि अभी तक उसे पूर्ण संतोष नहीं और न उसकी प्रेम-पिपासा शांत हो पाई है। विद्यापति की धारणा यह जान पड़ती है कि इस पिपासा का शांत हो जाना परम दुर्लभ है और यह दशा किसी विरले प्रेमी को ही प्राप्त हो सकती है। उन्होंने इस बात को भी किसी सखी से अपनी सखी के प्रति ही, प्रेमानुभूति का परिचय दिलाते हुए, बतलाया है; जैसे,

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल,
नयन न तिरपित भेल।

---

[1] **श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति पदावली' (सं० १९८२ संस्करण) पृ० ४०**

से हो मधुबोल स्रवनहि सूनल,
स्रुति-पथ परस न भेल।
कत मधु जामिनि रभस गमाओल,
न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय-हिय राखल,
तइओ हिय जुड़इ न गेल।
कत विदगध जन रस अनुमोदई,
अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत,
लाखेन मिलत एक॥[१]

विद्यापति ने इस पद मे उक्त चिरपिपासा के सदा बने रहने का कारण भी दे दिया है। उनका कहना है कि सच्चे अनुराग अथवा वास्तविक प्रेम की विशेषता उसके प्रत्येक क्षण नवीन ओर अधिकाधिक सुखप्रद होते जाने में लक्षित होती है। अतएव, उसका रूप किसी प्रेमी के लिए निरंतर प्रत्यग्र और अम्लान ही समझ पड़ता है और वह उसकी अनुभूति से कभी विरत होना पसंद नही करता।

प्रेमी अपने प्रेमभाव में इतना मग्न हो जाता है कि उसे किसी दूसरे प्रकार की अनुभूति का अवसर नही मिला करता। वह, इस प्रकार अपने प्रेमास्पद के प्रति एकांतनिष्ठ बन जाता है और उसकी ओर से इसे विमुख करना एक क्षण के लिए भी संभव नही होता। प्रेम के लिए वह अन्य किसी भी वस्तु का परित्याग कर देता है और उसमें निरत बने रहने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा देता है——

---

[१] श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति पदावली' (सं० १९८२ संस्करण) पृ० २९४

पेमक कारन जीउ उपेखिए,
जग जन के नहिं जाने।[१]

उसे अपनी टेक से ब्रह्मा भी डिगा नहीं सकता और न उसका बाल बांका कर सकता है। विधि की वक्रता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

जे जन रतल जाहि सौं सजनी,
कि करत बिहि भए वांक।[२]

प्रेमी अपने प्रेममार्ग में नित्यशः अग्रसर होता जाता है और वह प्रेम की धुन में ही लीन रह कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है। वह अपनी मनोदशा में अत्यल्प भी परिवर्तन नहीं चाहता और न अपनी गति में किसी प्रकार के अवरोध को सहन कर सकता है। विद्यापति के अनुसार प्रेम की गति अनिवार्य होती है और उसके सामने किसी प्रकार की बाधा का ला उपस्थित करना इसी कारण, व्यर्थ हो जाता है,

पेमक गति दुरवार।[३]

विद्यापति हिंदी-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध भक्तिकाल के प्रारंभिक दिनों में अपनी रचना करते रहे। इस कारण उन्हें अलौकिक प्रेम की व्याख्या करने अथवा उसे उदाहृत करने की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने अलौकिक पात्रों के आधार पर भी लौकिक प्रेम का ही परिचय दिया और उसे अपने ढंग से व्यक्त किया। विद्यापति की इस पद्धति का फिर, उसी रूप में, आगे किसी ने भी अनुसरण नहीं किया और रीतिकाल में एक बार पुनर्जीवित होकर भी यह विकृत बन गई। भक्तिकाल के अंतिम दिनों में यह प्रेमी कवि

श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति पदावली' (सं० १९८२ संस्करण) पृ० १८९

वही, पृ० २५७

वही, पृ० १५८

आलम की रचनाओं में किसी कोटि तक लक्षित हो पायी थी। किंतु आलम ने एक तो पदों की प्राचीन रचना-शैली का परित्याग कर दिया था दूसरे उन्होंने प्रेमगाथा को भी महत्त्व दे दिया था। इस कारण वे अपने कवित्तों अथवा सवैयों में उसे भली भाँति निभा न सके और उनका वर्णन कुछ भिन्न प्रकार का हो गया। फिर भी आलम कवि को प्रेमरस का व्यक्तिगत अनुभव था और वे तज्जनित मनोव्यथा का भी परिचय पा चुके थे। उन्होंने इसके उस अंश को अधिक महत्त्व प्रदान किया जो प्रेमियों के प्रत्यक्ष दैनिक जीवन में बहुधा अंतर्द्वंद्ववत् कष्ट देता रहता है। प्रेमी को जब अपने प्रेम पात्र की लगन अभिभूत कर देती है तो उसकी दशा विचित्र हो जाती है। न तो वह उसे अपनी आँखों से देख कर तृप्त हो पाता है और न उसे बिना देखे ही चैन के साथ रह सकता है। उसे किसी प्रकार भी कल नहीं। आलम ने श्रीकृष्ण की किसी प्रेमिका द्वारा कहलाया है—

देखे टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आनकी न चिन्ता, हम,
देखेहू दुखित अनदेखेहू दुखित है ॥१८५॥[1]

इस प्रकार, उन्होंने प्रेम की 'कसक' में कुछ तीव्रता भी ला दी है।

आलम के 'प्रेमी' में, विद्यापति के 'प्रेमी' की भाँति, उत्कट उत्साह और जीवन की उमंग नहीं है। वह विजित और बिके हुए व्यक्ति की मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है। जान पड़ता है कि, वह अपनी स्फूर्ति का बल सदा के लिए खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि उसका हृदय अपने प्रेमपात्र में सर्वथा ओतप्रोत है और कवि के शब्दों में,

---

[1] **'आलमकेलि' (ला० भगवानदीन संपादित, काशी, सं० १९७९), पृ० ७८**

सुरति समानी मन मनहीं में देखि बोलै,
मोरे जान पाँचहू समाने पांच रूप हैं ॥१०९॥ [१]

किंतु फिर भी उसे सदा किसी कमी का अनुभव होता ही रहता है और उसे अंत में, अपनी 'आहों' का ही सहारा लेना पड़ता है। वह अपने प्रेमपात्र को स्थूल और अक्षरशः प्रत्यक्ष अनुभव में उतारना चाहता है। उसके वियोग में वह संयोगावस्था की सुध बार-बार किया करता है और, दर्द भरे शब्दों में, आहें भरता हुआ-सा कहता है—

जा थल कीन्हे विहार अनेकन,
ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बात सु,
ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी,
केलि तहां अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते,
तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥ [२]

वास्तव में एक प्रेमी के लिए दीर्घ निःश्वास का लेना भी बहुत बड़ा महत्त्व रखता है और आलम के अनुसार तो,

आस यहै एक है उसांस जान रूँधे छिनु,
नेहु के निबाहिबे को आहि बड़ी मूरि है ॥११५॥ [३]

आलम ने प्रेमगाथा की परंपरा में 'माधवानल कामकन्दला' की रचना की।

---

[१] 'आलमकेलि' (ला० भगवानदीन संपादित, काशी, सं० १९७९), पृ० ४ (वक्तव्य)

[२] वही, पृ० ४७

[३] वही, पृ० ४९

माधवानल एवं कामकंदला की प्रेम-कहानी आलम के बहुत पहले से प्रचलित थी और, उनसे सौ वर्षों से कम पहले ही, गणपति ने (सं० १५८४ में) 'माधवानल कामकंदला प्रबंध' तथा कुशल लाभ ने (सं० १६१६ में) 'माधवानल कामकंदला चौपई' की रचना राजस्थानी में करके ख्याति प्राप्त कर ली थी। ऐसी ही एक अन्य रचना 'माधवानल कामकंदला रस विलास' का भी पता अभी कुछ दिन हुए चला है जिसे सं० १६०० में लिखा गया था, किंतु, जिसकी हस्तलिखित प्रति का लगभग आधा अंश उपलब्ध न हो सकने के कारण, उसके रचयिता का पता नहीं चलता। माधवानल और कामकंदला की प्रेम-कहानी का कथानक भारतीय समाज से संबंध रखता है और उसमें भारतीय संस्कृति के संरक्षक प्रसिद्ध महाराजा विक्रमादित्य द्वारा आयोजित दो प्रेमियों के मिलन की घटना का भी उल्लेख है। इस कहानी का रूप-रंग 'ढोला मारूरा दूहा' की प्रेमकथा से प्रधानतः इस बात में भिन्न है कि इसके प्रेमियों में किसी प्रकार का वैवाहिक संबंध नहीं है और, वे इस प्रकार स्वतंत्र हैं। वैवाहिक संबंध उन दोनों के बीच तब घटित हो पाता है जब वे भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टों द्वारा भली भाँति तपा लिए जाते हैं। इस कहानी में उन चमत्कारों का भी उल्लेख उतनी मात्रा में नहीं जिनकी, उषा-अनिरुद्ध जैसे पौराणिक पात्रों की कहानियों में, आवश्यकता पड़ी है। वास्तव में 'उषा-अनिरुद्ध' अथवा 'नल-दमयंती' की प्रेम कहानियों के पात्र भी प्रायः अलौकिक-से हो गए हैं जहाँ माधवानल कामकंदला के पात्र लौकिक रखे गए हैं और उसमें चमत्कारों के भी प्रसंग आवश्यकता से अधिक नहीं आ पाए हैं। रचना का प्रधान उद्देश्य मानव समाज के दो प्रेमी व्यक्तियों के कार्य-कलाप तथा दोनों के पूर्वनिश्चित मिलन का वर्णन करना मात्र है।

परंतु आलम के समय में प्रेम-गाथाओं की एक और भी परम्परा चल रही थी जो सूफ़ियों की थी और जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मुल्ला दाऊद ने जिस 'चंदायन' की रचना, सं० १४३६ में, की थी, उसका उद्देश्य

केवल दो प्रेमियों के प्रेम-संबंध का ही वर्णन करना मात्र नहीं था, प्रत्युत उसमें दी गई कथा के लौकिक प्रेम (इश्क़ मजाज़ी) को आधार बना कर अलौकिक प्रेम (इश्क़ हक़ीक़ी) का निरूपण करना भी था। सूफ़ियों की धारणा के अनुसार इन दोनों प्रकार के प्रेम में कोई मौलिक अंतर नहीं है। लौकिक प्रेम यदि शुद्ध और सच्चा है तो वही अलौकिक प्रेम अर्थात् परमात्मा के प्रति प्रदर्शित किए जाने वाले प्रेम में भी परिणत हो सकता है। इस प्रकार का लौकिक प्रेम, वस्तुतः, उस अलौकिक प्रेम के लिए एक प्रकार की साधना वा सीढ़ी का काम देता है। इस कारण इसे, दो उत्कृष्ट श्रेणी के प्रेमियों की कथा के व्याज से, समझा कर भली भाँति परिचित भी कराया जा सकता है। फलतः उक्त 'चंदायन' के अनुकरण में लिखी जाने वाली सूफ़ी प्रेम-गाथाओं की एक परम्परा पृथक् चल निकली जिनका रूप द्व्यर्थक हो गया। आलम की प्रेमकथा 'माधवानल कामकंदला' की रचना सं० १६४० में हुई जिसके पहले से ही, 'चंदायन' के आदर्श पर, क्रमशः कुतबन की 'मिरगावती' (सं० १५६०), जायसी की 'पदुमावती' (सं० १५९७) तथा मंझन की 'मधुमालति' (सं० १६०२) लिखी जा चुकी थी। इन सबके कथानक भिन्न-भिन्न थे, किंतु इनकी रचना का प्रमुख उद्देश्य एक था और इनकी शैलियों में भी बहुत कुछ समानता थी।

इन सभी प्रेमगाथाओं में जायसी की 'पदुमावति' सबसे अधिक सफल रचना समझी जाती है और वह इनका प्रतिनिधित्व भी कर सकती है जिस कारण उसीके आधार पर यहाँ सूफ़ीप्रेम की विशेषताओं का परिचय देना असंगत नहीं होगा। 'पदुमावति' के कथानक का संक्षिप्त सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है:—सिंहल द्वीप के राजा की सुन्दरी कन्या पद्मावती के योग्य वर की आवश्यकता थी जिसकी खोज में उड़ता हुआ उसका हीरामन किसी बहेलिये के हाथ पड़ गया। बहेलिये ने उसे किसी ब्राह्मण के हाथ बेच दिया जिससे फिर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे खरीद लिया और वह राजा का प्रियपात्र बन गया। राजा की अनुपस्थिति में उससे पद्मावती के

सौंदर्य की प्रशंसा सुन रानी नागमती ने उसे मरवा डालना चाहा, किन्तु वह बच गया और फिर, राजा के लौटने पर, उसने उमसे भी पद्मावती की प्रशंसा कर उसे उसके लिए अधीर बना दिया। फलतः रतनसेन जोगी का वेश धारण कर सोलह सहस्र राजकुमारों के साथ उसे प्राप्त करने चल निकला और अनेक प्रकार के कष्ट झेल कर ही वहाँ पहुँच पाया। सिहल द्वीप मे उसने इधर शिव मंदिर मे पद्मावती का ध्यान और जप किया और उधर हीरामन ने यह सारी कथा पद्मावती से कह सुनाई। वह इन बातों से प्रभावित होकर श्री पंचमी को शिव मंदिर पहुंच गई और उसे देख कर रतनसेन मूर्छित हो गया। फिर सचेत होकर उसने सिंहलगढ पर चढ़ाई की और पहले पकड़े जाकर, अंत मे, वह पद्मावती की प्राप्ति तथा उसके साथ विवाह मे भी कृतकार्य हुआ।

राजा रतनसेन इस प्रकार, पद्मावती को लेकर चित्तौर लौटा और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा। किंतु उसके दरबार से निकाले गए किसी राघव चेतन नामक पंडित ने उससे बदला लेने के उद्देश्य से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन को उसके विरुद्ध उभाड़ दिया। बादशाह ने राजा से पद्मावती को मांगा जिसकी स्वीकृति न मिल सकने पर दोनों के बीच युद्ध ठन गया। परंतु बादशाह चित्तौरगढ को जब न ले सका तो उसने संधि का प्रस्ताव भेजा और दोनों प्रीतिभोज में सम्मिलित हुए। ऐसे ही अवसर पर सामने रखे हुए दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिंब देख कर बादशाह मूर्छित हो गया और फिर अपने पहुचाये जाते समय उसने राजा को पकड़वा लिया। पद्मावती यह जान कर अधीर हो उठी और अपने पति से मिलने की अभिलाषा से ७०० पालकियों में उसने, सशस्त्र सैनिक भेज कर, उनके द्वारा उसे मुक्त करा दिया और वह बादल के साथ सकुशल लौट आया। अंत में रतनसेन कुंभलणेर के देवपाल के साथ लड़ कर मर गया और उसके शव के साथ पद्मावती एवं नागमती दोनों ही जल कर सती हो गई। बादशाह जब अपनी सेना के साथ चित्तौर पहुँचा तो उसे पद्मावती की

जगह चिता की राख मात्र मिली जिसे देखकर उसे मार्मिक कष्ट हुआ।

जायसी ने इसी प्रेम-कथा के आधार पर अपनी रचना प्रस्तुत की है और उसके अंत में बतला दिया है कि जो कुछ भी उसके अंतर्गत वर्णन किया गया है वह सोद्देश्य है तथा पूरी कथा को रूपक मानकर उसका रहस्य समझाया जा सकता है। जायसी के अनुसार चौदहों भुवन मानव-शरीर के भीतर ही वर्त्तमान हैं। शरीर चित्तौरगढ़ है जहाँ राजा रतनसेन मन के रूप में विद्यमान है, हृदय-प्रदेश सिंहल द्वीप है, पद्मावती बुद्धि स्वरूप है, हीरामन तोता सद्गुरु का प्रतीक है, नागमती सांसारिक प्रपंच है, राघव चेतन शैतान है और सुलतान अलाउद्दीन वहाँ पर माया का प्रतिनिधित्व करता है। सारी प्रेम-कथा का अर्थ इसीके अनुसार लगाना चाहिए। जायसी ने फिर अपनी रचना के 'पार्वती-महेश खंड' में शरीर के भीतर वर्त्तमान विविध नाड़ियों आदि की भी चर्चा की है और सिंहलगढ़ के विषय में "गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया" कहकर उसी व्याज से योग-साधना की भी युक्ति बतला दी है। वहाँ पर वे बतलाते हैं कि मानव-शरीर के भीतर नौ 'पौरी' (दो नाक-छिद्र, दो कान, दो आँखें, एक मुख, एक गुदा-द्वार और एक मूत्र-द्वार) हैं और इनके अतिरिक्त एक 'दसवँ दुवार' भी है जो 'गुपुत' है और जहाँ तक चढ़ने का मार्ग अत्यंत दुर्गम है। वह किसी ताड़ के वृक्ष पर स्थित-सा है जहाँ तक पहुँचने के लिए अपने प्राणों का आयाम करके जाना होता है। जायसी ने उस गढ़ के नीचे बनी हुई एक 'सुरंग' का भी पता दिया है जो वस्तुतः मेरुदंड की सुषुम्ना नाड़ी के निम्न भाग में वर्त्तमान कुंडलिनी के प्रवेश-द्वार को सूचक है। उनका कहना है कि उसी सूक्ष्म मार्ग द्वारा (षट् चक्रादि को भेदकर) क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ना पड़ता है और इस क्रिया की साधना से, श्वासों के निरोध के साथ-साथ, मन भी अपने वश में आ जाता है जिसके फलस्वरूप आत्म-ज्ञान की सिद्धि हो जाती है। जायसी ने यहाँ पर मानव-शरीर को सिंहलगढ़ बतला कर मन

को, कदाचित् वहाँ के राजा का स्थानापन्न ठहराया है जो उनकी रचना के अत मे दिये गए रूपक के विपरीत पडता है और इसके कारण भ्रम भी उत्पन्न होता है। परतु उनकी यह भूल उनकी उस उत्सुकता की ओर भी सकेत करती है जिसकी प्रेरणा से उन्होने इस कथारूपक की सृष्टि की है और लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम दर्शाने की चेष्टा की है।

जायसी द्वारा इसी प्रकार सूफी प्रेम-साधना का रहस्योद्घाटन किया गया है जिसमे उन्हे पूरी सफलता नही मिल पाई है। कथा-रूपक की ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक बातो के भी साथ अप्रस्तुत साधना का अक्षरश मेल खाना किसी प्रकार भी सभव नही है। फिर भी इस प्रकार की त्रुटि उस मूल आदर्श का ही परिणाम है जिसके अनुसार सूफी कवि ऐसी रचनाओ मे प्रवृत्त होते ह। इन कवियो की ऐसी धारणा रही है कि लौकिक प्रेम एव अलौकिक प्रेम मे मूलत कुछ भी अन्तर नही है। इस कारण, परमात्मा की उपलब्धि के उद्देश्य से की गई प्रेम-साधना का भी रूप ठीक वही हो सकता है जो लौकिक प्रेम के क्षेत्र मे दीख पडता है। ये कवि इसी कारण, न केवल उन बातो का यथास्थान वर्णन करने मे असफल होते है जो अलौकिक प्रेम-साधना के लिए आवश्यक होती है, अपितु ये प्रेम-कहानियो की विविध घटनाओ को यथावत् चित्रित करते समय भी बहुधा बहक जाया करते है। इस प्रकार, इनकी रचनाओ म बेमेल प्रसगो तथा दृश्यो की भरमार हो जाती है। जायसी सूफी-प्रेमगाथा के लिए एक आदर्श कवि समझे जाते है, किन्तु ये भी अपने प्रयत्नो मे पूर्णत कृतकार्य नही हो पाये है।

फिर भी जायसी ने अपनी 'पदुमावति' के बीच बीच मे जो प्रेमतत्त्व का निरूपण किया है वह बहुत स्पष्ट है। जायसी के अनुसार, यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, प्रेम के समान अन्य कोई भी साधना उत्कृष्ट नही है। इसमें लग जाने पर दु ख भी सुखवत् प्रतीत होने लगता है और इसे अन्त तक निभाने मे जो अनेक प्रकार के क्लेशादि झेलने पडते है, उनका परिणाम सदा

कल्याणप्रद ही होता है। इस प्रेम की धारा में जो पड़ जाता है वह फिर वह निकलता है और उसके मार्ग में पड़नेवाली कोई भी बाधा उसकी गति का अवरोध नहीं कर पाती। उसके सामने सदा एक ही लक्ष्य रहा करता है कि वह किस प्रकार अपने प्रेमपात्र का सान्निध्य प्राप्त करे और उसके संयोग के आनन्द का अनुभव करे। जब तक वह अपने उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे बेचैनी रहा करती है। जायसी ने प्रेमी के लिए प्रेम-मार्ग के किसी पथप्रदर्शक का होना भी अत्यंत आवश्यक माना है। सूफ़ी साधकों के यहाँ 'पीर' का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उनकी धारणा है कि बिना उसके उन्हें पूरी सफलता किसी भी प्रकार नहीं मिल सकती। 'पीर' उन्हें प्रेममार्ग का पता दिया करता है, उन्हें उसमें पाये जानेवाले मर्मस्थलों से परिचित कराता है और उन्हें बेचैनी के समय ढाढस भी बँधाता है। जायसी ने, इसी कारण, हीरामन तोते को गुरु की संज्ञा देते हुए कहा है—

गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।[1]

जायसी के अनुसार प्रेमतत्त्व का सार अंश उसके विरह वाले पहलू में ही पूर्णतः लक्षित होता है। जिस प्रकार मोम के घर अर्थात् मधुकोष के भीतर अमृत रूपी मधु रहा करता है उसी प्रकार प्रेम के अन्तर्गत विरह भी निवास करता है।[2] बिना विरह के प्रेम के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके उदाहरण में जायसी ने हीरामन द्वारा पद्मावती की सौंदर्य-सराहना कराकर प्रेमी रतनसेन के हृदय में विरहभाव जागृत कराया है और इसके साथ 'प्रेम का प्रबल और अदम्य स्वरूप' भी दिखला दिया है। विरह के इस प्रकार अकस्मात् जागृत हो जाने का

---

[1] **'जायसी ग्रन्थावली' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ३४१**

[2] **'प्रेमहि मांहि विरह रस रसा। मैन के घर मधु अमृत बसा।।' वही, पृ० ८०**

एक प्रमुख कारण, जायसी द्वारा निर्दिष्ट उन संकेतों में पाया जा सकता है जिनके अनुसार रतनसेन की सामुद्रिक रेखाओं के आधार पर किसी पंडित ने बतला दिया था कि उसकी 'जोरी' 'पदुम पदारथ' निश्चित है। किंतु वे इतने से ही संतोष नहीं कर लेते, प्रत्युत यहाँ तक बतलाने लगते हैं कि विरह का प्रभाव सर्वव्यापी है और वह सारे ब्रह्मांड में दीख पड़ता है। उनका कहना है कि हमारे सौर मंडल का केन्द्र स्वयं सूर्य तक इसीके द्वारा प्रभावित है; जैसे,

विरह के आगि सूर जरि काँपा।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥
खिनहि सरग खिन जाइ पतारा।
थिर न रहै एहि आगि अपारा॥[१]

अर्थात् सूर्य भी इस विरहाग्नि के कारण ही जलता और काँपता रहता है और क्षण भर के लिए भी उसके ताप से नही बच पाता। इसके कारण उसे ऐसी बेचैनी सताती है कि वह कभी ऊपर और कभी नीचे जाता रहता है, किन्तु तो भी उसे शान्ति नहीं मिलती।

जायसी ने 'पदुमावति' के अन्तर्गत प्रेम एवं विरह की दशाओं का भी वर्णन किया है जो बहुत सुन्दर और सजीव है। उदाहरण के लिए हीरामन तोता के द्वारा पदुमावति के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर राजा रतनसेन की जो दशा हो गई उसका वर्णन यों किया गया है—

सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई।
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होइ विसँभारा।
विरह भंवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहि लेई।

---

१ 'जायसी ग्रंथावली' (ना० प्र० स०, काशी), पृ० ८८

खिनहि निसास बूडि जिउ जाई। खिनहि उठै निसँसै बौराई।
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत खिन होइ अचेता।
कठिन मरनतें पेम बेवस्था। ना जिअँ जिवन न दसइँ अवस्था।
जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ, हर्राँह तरासहि ताहि।
एतना बोलन आव मुख, करहि तराहि तराहि॥[1]

अर्थात् सुए के मुँह से पदुमावति का परिचय पाते ही राजा रतनसेन, इस प्रकार मूर्छित हो गया मानों उसे लू लग गई। वह प्रेमसमुद्र में पड़कर मग्न होने लगा और उसकी प्रत्येक लहर के प्रभाव में संज्ञाहीन तक हो जाने लगा। कभी-कभी उसे विरह 'भँवर' के चक्कर में डाल देता और वह हिलोरें लेता तथा डूबने-उतराने-सा लगता। कभी पागल तक भी बन जाता। उसके मुख का रंग कभी पीला और कभी श्वेत हो जाता और कभी-कभी वह (कामशास्त्र में बतलाई गई मरण की) दशवीं अवस्था तक पहुँचने लगता। जान पड़ता था जैसे बलपूर्वक वसूली करनेवाले लोग उसका सब अपहरण करते जा रहे हैं और उसे भय भी दिखलाते हैं। उसके मुख से कोई दूसरा शब्द नहीं निकलता और वह केवल 'अरे, बचाओ' 'अरे, बचाओ' मात्र ही कहकर रह जाता है।

फिर मूर्छित अवस्था के अनन्तर उस प्रेमी के सचेत हो जाने की दशा का वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है—

जौं भा चेत उठा बैरागा। बाउर मनहुं सोइ अस जागा।
आवन जगत बालक अस रोवा। उठा रोइ हा ग्यान सो खोवा।
हौं तो अहा अमर पुर जहां। इहां मरनपुर आएउँ कहां।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा।

---

[1] 'जायसी ग्रन्थावली' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग), पृ० १९९-२००

सोवत अहा जहाँ सुख साखा। कसन तहाँ सोवत विधि राखा।
अब जिउ तहां इहां तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना।
इत्यादि[१]

अर्थात् वह विरही पुनः सज्ञा प्राप्त करते ही इस प्रकार का दीख पड़ा मानों कोई पागल सोकर उठा हो। जिस प्रकार कोई शिशु जन्म लेते ही रो उठता है, उसी प्रकार अपनी प्रेमावस्था की अनुभूति के मद पड़ते ही वह एक दूसरे ससार में आ पड़ने के कारण रो पड़ा। उसने कहा कि मै तो अभी तक प्रेम के अमरपुर का आनन्द लूट रहा था, यहाँ इस मर्त्यलोक मे फिर कैसे आ गया ! मुझे संज्ञाहीन न रहने देकर मुझे सचेत कर देने का उपकार तो मेरे साथ अच्छा किया गया ! मुझे सोने समय (मूर्छित अवस्था मे) सच्चे सुख का अनुभव हो रहा था, जिस दशा में दैव ने मुझे रहने नही दिया और मेरा शरीर यहाँ पर निष्प्राण-सा हो गया। जायसी ने यहाँ पर बतलाया है कि प्रेम की अनुभूति राजसी ऐश्वर्य की अनुभूति से भी कही अधिक आनन्द-प्रदायिनी है और एक प्रेमी के लिए प्रेम का जगत् अमरत्व का स्थान है, जहाँ पर यह प्रत्यक्ष जगत उसे उसकी अपेक्षा जरामरण के एक साधारण क्षेत्र-सा लगता है।

जायसी जैसे सूफ़ियों को इस बात के लिए बहुत बड़ा पछतावा है कि वे अपने मूल स्वरूप परमात्मा से विमुक्त हो गए हैं। वे अपने को, इसी कारण, सदा उसके विरह में दुखी और पीड़ित ही प्रदर्शित करना चाहते है। अपनी प्रेमगाथाओं के प्रेमियों को भी अधिकतर उसी दशा में वे चित्रित करते है और अनेक प्रकार की कंटकाकीर्ण परिस्थितियों में उन्हें डालकर ही फिर सफल बनाते है। एक सूफ़ी सालिक (साधक) की साधना, इस प्रकार किसी लौकिक प्रेमी की अनुभूतियों से भिन्न नहीं है। परन्तु जायसी जैसे सूफ़ी कवियों का प्रेम-निरूपण, इन बातों के होते हुए भी, विद्यापति जैसे

---

[१] **'जायसी ग्रन्थावली' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग), पृ० २०१**

शृंगारी कवियों की प्रेम-चर्चा मे सर्वथा भिन्न नहीं। विरही नायकों तथा विरहिणी नायिकाओं के पीड़ित हृदयों की वेदना और व्याकुलता की दोनों ही परीक्षा करते हैं और, सूक्ष्म निरीक्षण एवं विश्लेषण के आधार पर, उनकी विरहानुभूति का वर्णन करते हैं। दोनों प्रकार की रचनाओं में इस बात की चेष्टा एक समान लक्षित होती है कि प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक का भी प्रेम दूसरे से न्यून न प्रदर्शित किया जाय। फिर भी जायसी आदि सूफ़ी कवियों का विरह-वर्णन, उनकी शामी परम्परा के कारण, कभी-कभी अत्युक्तिपूर्ण-सा लगता है, जहाँ विद्यापति जैसे उच्च कोटि के शृंगारी कवियों में यह बात बहुत कम देखने को मिलती है। जायसी और विद्यापति के बीच एक उल्लेखनीय असमानता यह भी बतलायी जा सकती है कि जायसी जहाँ प्रधानतः विरह के कवि हैं वहां विद्यापति प्रधानतः संयोग-शृंगार के कवि हैं और विरह का वर्णन इनमें केवल प्रसंगवश ही आ जाता है।

जायसी की 'पदुमावति' वाली प्रेमकथा एवं 'ढोला मारूरा दूहा' की प्रेम-कहानी में कई प्रकार की समानता दीख पडती है और जान पडता है कि एक ने दूसरे की रूप-रेखा से कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाया होगा। इतिहास-ग्रन्थों से पता चलता है कि ढोला कछवाहा वंश का एक ऐतिहासिक व्यक्ति था और विक्रम की दसवी शताब्दी में विद्यमान था तथा मालवणी अर्थात् मालव देश की राजकुमारी के साथ उसका प्रेम-संबंध था। इसी प्रकार राजा रतनसेन (वा सिंह) एवं पद्मिनी का भी ऐतिहासिक व्यक्ति होना और उनके वैवाहिक संबंध का १४वीं शताब्दी में घटित होना इतिहास-ग्रन्थों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। 'ढोला मारूरा दूहा' में मालवणी का सूआ ढोला को प्रेम-मार्ग का प्रदर्शन करना चाहता है यद्यपि असफल रह जाता है, 'पदुमावति' में हीरामन सूआ रतनसेन के लिए प्रेम-मार्ग का प्रदर्शन करता है और वह सफल भी होता है। 'ढोला मारूरा दूहा' में ऊमर का दुष्ट चारण ढोला को धोखा देकर उसे प्रेम-मार्ग से विचलित

करना चाहता है, किन्तु विफल रहता है, 'पदुमावति' में राघव चेतन लालच देकर अलाउद्दीन को रतनसेन के विरुद्ध चढ़ा लाता है और दोनों में युद्ध करा देता है। ढोला, मारू से मिलने के लिए जाते समय अनेक प्रकार के कष्ट झेलता है और उसी प्रकार रतनसेन को भी पद्मावती के लिए सिंहल द्वीप की विकट और भयंकर यात्रा करनी पड़ती है। ढोला जब मारू को लेकर घर की ओर चलता है तो मार्ग में उसकी प्रेमपात्री को सांप डॅस लेता है और वह योगी और योगिन की सहायता से किसी प्रकार बचायी जा पाती है तथा ढोला भी चिता पर चढ़ने से बच जाता है; उधर सिहल द्वीप मे जब पद्मावती को देखकर रतनसेन मूछित हो जाता है और फिर सचेत होकर भी चितारोहण करने की ठानता है तो महादेव एव पार्वती योगी और योगिन के ही वेश में आते है और उसे बचाते है। 'ढोला मारूरा दूहा' में मारू ने अपना विरह-संदेश कुज पक्षियों द्वारा भेजने की चेष्टा की है और 'पदुमावति' में नागमती ने, उसी प्रकार, अपने पति के पास विरह-संदेश उपवन के पक्षियों द्वारा भेजना चाहा है। 'ढोला मारूरा दूहा' तथा 'पदुमावति' दोनों मे क्रमशः मारू एव मालवणी तथा पद्मावती एवं नागमती के बीच सौतिया डाह के कुछ न कुछ उदाहरण पाये जाते है। दोनों कहानियों की सौतें, अत में, एक दूसरे के देश की निंदा और अपने-अपने देशों की प्रशंसा करती है और उनके पति बीच में पड़ते हैं।

'पदुमावति' की रचना को जायसी ने राजा रतनसेन की मृत्यु के अनंतर उनकी रानियों को भी 'सती' कराकर दुःखांत बना डाला है। जायसी के पहले 'मिरगावति' की रचना करने वाले कुतबन ने भी ऐसा ही किया था और राजा-रानियों को जलाकर भस्म करा दिया था। परन्तु 'मधुमालति' के रचयिता मंझन कवि ऐसा नही करते और अपनी प्रेम-कहानी को सुखांत की दशा में ही छोड़ देते है। ये बड़े करुणार्द्र हृदय के व्यक्ति जान पड़ते है और कहानी के अंत में कहते हैं—

कथा जगत जेती कवि आई।
पुरुष मारि व्रज सती कराई।।
मैं छोहन्ह येइ मारन पारे।
मरिहहि यही जो कलि औतारे।।[१]

अर्थात् इस प्रकार की प्रेम-कथाओं के कवि प्रायः प्रेमियों का अंत दिखलाकर प्रेमिकाओं को भी उनके साथ चितारूढ़ करा देते हैं। किंतु मेरा हृदय ऐसी घटनाओं का वर्णन करना सह न सका और, यह समझकर कि अन्त में तो सभी मर ही जाते हैं, मैंने ऐसा करना छोड़ दिया। वास्तव में मंझन दुःख को सृष्टि के मूल में ही निहित मानते हैं और उसे प्रेम के लिए अनिवार्य भी समझते हैं। वे कहते हैं—

दुख मानुस कर आदिक वासा।
ब्रह्म कँवल मँह दुख कर वासा।।

और फिर आगे चलकर वे यह भी बतलाते हैं,

सुन्यो जाहि दिन सृष्टि उपाई।
प्रीत परेवा दैव उड़ाई।।
तीनो लोक ढूंढ़ कै आवा।
आप जोग कहुँ ठांव न पावा।।
तब फिर हम जीव पैसो आई।
रह्यो लोभाय न किया उड़ाई।।
तीन भुवन तब पूंछी बाता।
कहुत केहि मानुस सो राता।।
कहेसि दुख मानुस कै आसा।
जहां दुख तहां मोर निवासा।।

---

[१] 'सूफ़ी-काव्य-संग्रह' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० १२६।

जेहि दुख होइ जग भीतर, प्रीत होइ पुनि ताहि।
प्रीत बात का जानै बपुरा, जेहि सिर पर दुख नाहिं॥४॥[१]

मंझन कवि की एक यह भी विशेषता है कि वे जायसी अथवा कुतबन की भाँति प्रेम-भाव को क्रमशः प्रेमी और प्रेमिका के एक दूसरे के रूप-सौंदर्य-श्रवण अथवा केवल प्रेमी के ही प्रेमपात्री के रूप-दर्शन के आधार पर, जागृत नहीं करते। वे कुँवर और मालती को एक ही जगह पहले सुलवा देते हैं और फिर दोनों के जगते ही एक दूसरे पर मुग्ध करा देते हैं। इनकी 'मधु-मालति' में प्रेमिका के हृदय का अंतर्द्वंद भी उसकी किंकर्तव्यविमूढ़ता का एक सुन्दर उदाहरण है; जैसे,

पेम बिछोह नहि सहि सकौं, मरौं तो मरइ न जाइ।
दुहूं दुभर बिचमें परी, दगधि न हिये बुझाइ॥६॥[२]

---

[१] 'सूफ़ी-काव्य-संग्रह' (हि० सा० स०, प्रयाग) पृ० १२२
[२] वही, पृ० १२५

४. मध्यकालीन संत-काव्य

सूफी कवियों ने प्रेम-कहानियों द्वारा लौकिक प्रेम के उदाहरण उपस्थित कर उनके आधार पर अलौकिक प्रेम का निरूपण किया। किन्तु संत कवियों ने अपने अलौकिक प्रेम का परिचय देते समय ऐसे साधनों की आवश्यकता नही समझी। उन्होने अपने इष्टदेव 'राम' वा परमात्मा के प्रति अपने भक्तिभाव का प्रदर्शन उसे अपने सामने प्रत्यक्ष-सा मानकर किया। उसे उन्होंने सर्वव्यापक के रूप में सब कहीं देखने का प्रयत्न किया और उसे अपने निजी स्वरूप मे अभिन्न भी माना। उनका 'राम' निर्गुण एव सगुण से परे किसी अनिर्वचनीय प्रकार का था, किन्तु वे उसे कोई व्यक्तित्व देते-से भी जान पडे और जिस तत्व को उन्होने सभी प्रकार से निरपेक्ष (Absolute) की भाँति समझा उसके साथ उन्होंने विविध सबंध भी स्थापित किये। उसे उन्होने अपने 'गुसाई' के रूप मे देखा, अपने 'सतगुरु' के रूप में सम्मानित किया, अपने माता-पिता के रूप में उसकी कल्पना कर उससे अपने प्रति स्नेह-प्रदर्शन की याचना की। इसी प्रकार, उसे अपने पति के रूप मे स्वीकार करते हुए उसके प्रति अपने प्रेम और विरह के भाव पत्नीवत् प्रकट किये और उसे अपने को सर्वतोभावेन समर्पित भी कर डाला। संत कवि प्रधानत. शांकराद्वैतवाद के समर्थक थे और आत्मा एव परमात्मा को एक और अभिन्न मानते थे जिस कारण 'राम' के साथ होने वाले अपने अभीष्ट मिलन को वे जल में जल के 'समा' जाने की भाँति समझाया करते थे। किन्तु फिर भी वे अपनी उस समरसता की स्थिति वा सहजावस्था का अनुभव सदा उसी रूप मे करना नही चाहते थे। भक्ति-भाव के आवेश में वे इस बात को जैसे भूल-से जाते थे और अपने इष्टदेव के साथ

अद्वयता के संबंध को अक्षुण्ण बनाये रहने पर भी, द्वैतवादी की भाँति आचरण करने लग जाते थे और तदनुसार ही अपने हृदय के उद्गार भी प्रकट करते थे। संत कवियों की धारणा थी कि जिस 'सहज' की स्थिति को हम आदर्श रूप देना चाहते हैं उसे उपलब्ध कर लेने पर हमारी भाववृत्ति, ज्ञानवृत्ति एवं कर्मवृत्ति में पूर्ण ऐक्य भाव की स्थापना हो जाती है जिस कारण उनमें से किसी एक पृथक् अभिव्यक्ति द्वारा भी असंगति नहीं आ पाती।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के, विक्रम की १७ वीं शताब्दी तक समाप्त होने वाले इस काल में बहुत से संत कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। संतमत का रूप कबीर साहब (मृ० सं० १५०५) के समय में निश्चित हुआ और प्रायः उन्हींके आदर्श पर उसका प्रचार होने लगा। कबीर साहब की रचनाओं में जिस अलौकिक प्रेम का परिचय मिलता है उसे उन्होंने कहीं-कहीं 'नारदी-भक्ति' का नाम दिया है।[१] वह भक्ति वस्तुतः प्रेम लक्षणा है और उसे नारद के 'भक्ति सूत्रों' में 'परमप्रेम रूपा' जैसे विशेषणों द्वारा निर्दिष्ट भी किया गया है। नारद के अनुसार जहाँ व्यास जैसे भक्त भक्ति-साधना के अन्तर्गत 'पूजादिष्वनुरागः' अर्थात् पूजनादि की उपयोगिता स्वीकार करते हैं और गर्ग जैसे भक्त कथादि के श्रवण अथवा कीर्त्तन में आस्था रखते हैं तथा शांडिल्य जैसे भक्त आत्म-रति के अविरोधी सभी विषयों के प्रति अनुराग का भाव प्रदर्शित करना चाहते हैं वहाँ, स्वयं उनके मत से, अपने सब कर्मों को अपने इष्टदेव के प्रति अर्पित करते रहना और भगवान के किंचिन्मात्र भी विस्मरण से परम व्याकुल हो जाना ही इसकी विशेषता है।[२]

---

[१] 'भगति नारदी मगन सरीरा। इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा'—क० ग्रं०, पृ० १८३

[२] 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति ॥१९॥'—'प्रेमदर्शन' (गीता प्रेस, गोरखपुर), पृ० २५ (दे० १६, १७ एवं १८ सूत्र भी।)

इस बात को 'अस्त्येवमेवम्'[1] अर्थात् 'ठीक ऐसा है ही' कहकर फिर एक बार दुहरा दिया गया है जिससे इस लक्षण का महत्त्व सूचित होता है और इसके द्वारा 'श्रीमद्भगवद्गीता' की उस पंक्ति की व्याख्या भी हो जाती है जिसमें अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दो कहा है[2]। संतों की प्रेम-साधना का उद्देश्य केवल भक्ति-प्रदर्शन मात्र नहीं था और न उसके आधार पर इष्टदेव का गुणगान ही था। उन्होंने इसे अपने जीवन का विशिष्ट अंग बना डालने की चेष्टा की और इसे एक व्यावहारिक रूप भी देना चाहा।

कबीर साहब से लगभग एक सौ वर्ष पहले संत नामदेव (मृ० सं० १४०७) ने सन्तमत का पथ-प्रदर्शन किया था। वे महाराष्ट्र प्रान्त के मूल निवासी थे, किन्तु अपने मत का प्रचार उन्होंने उत्तरी भारत में भी किया था। उन्हें अपने 'गोविंद' अर्थात् परमात्म तत्त्व के सर्वव्यापी और अद्वितीय होने में बड़ी गहरी आस्था थी और वे अपने उस प्रियतम का प्रत्यक्ष दर्शन सर्वत्र करते थे। उनका कहना था,

एक अनेक विआपक पूरक जत देखउ तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहित विरला बूझै कोई ॥१॥
सभु गोविंदु है सभु गोविंदु है। गोविंद बिनु नहिं कोई।
सूतु एकु मणि सत सहंस जैसे, ओतप्रोत प्रभु सोई ॥रहाउ ॥[3]

अर्थात् वही एक अनेक में व्याप्त है और उसीको हम सर्वत्र देखते हैं। माया के वैचित्र्य से विमुग्ध हो जाने के कारण उसे कोई विरला ही समझ पाता है। जिस प्रकार एक ही सूत्र में सहस्रों मणि गुंथे जा सकते हैं, उसी प्रकार वह सर्वत्र ओत-प्रोत है; सब कुछ केवल गोविन्द मात्र है, उसके

---

[1] **सूत्र २०**

[2] **'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम्' (अ० ८ श्लोक ७)**

[3] **'आदि ग्रंथ' (गुरू खालसा प्रेस, अमृतसर) पृ० ४८५**

अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। संत नामदेव का हृदय उसी प्रियतम के प्रति अनुरक्त था और वे उसके प्रति सदा एक भाव से दत्तचित्त रहना अपना आदर्श मानते थे। इस एकाग्रता का स्पष्टीकरण करते हुए भी उन्होंने कुछ दृष्टांत दिये हैं; जैसे,

आनीले कागद काटीले गुड़ी, आकास मधे भरमीअले।
पंच जनासिउ बात बतउआ, चीतुसु डोरी राखीअले॥१॥
मनु राम नामा बेधीअले। जैसे कनिक कला चितु मांडीअले॥रहाउ॥
आनीले कुंभु भराइले ऊदक, राजकुआरि पुरंदरीए।
हँसत विनोद बीचार करती है, चीतु सुगागरि राखीअले॥२॥ इ०[1]

अर्थात् जिस प्रकार कोई कागज लेकर और उसे काटकर गुड्डा वा पतंग बनाते हैं और उसे आकाश में उड़ाते हैं तथा जिस प्रकार, उस समय कुछ लोगों से बातचीत करते हुए भी, अपना ध्यान सदा उसकी डोरी पर ही रखा करते हैं, उसी प्रकार नामदेव का मन राम के साथ लगा है, ठीक वैसे ही जैसे किसी स्वर्णाभूषण पर अपनी कला प्रदर्शित करते समय स्वर्णकार एकाग्र होता है। घड़े को लेकर और उसे जल से पूर्ण कर जिस प्रकार युवतियाँ उसे अपने सिर पर रख लेती हैं और आपस में हँसती तथा विनोद करती हुई भी अपना ध्यान सदा अपने घड़े की ओर ही रखती हैं उसी प्रकार नामदेव भी अपने प्रियतम की ओर लगा रहता है।

संत नामदेव की एकांतनिष्ठा उस 'नारायण' वा परमात्मा के प्रति अत्यन्त गहरी है जिसे प्रकट करते हुए भी वे अनेक दृष्टान्त देते हैं। वे उस प्रियतम के प्रति अपने प्रेमभाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

जैसी भूषे प्रीति अनाज, तृषावंत जल सेती काज।
जैसी मूढ़ कुटंब पराइण, ऐसी नामे प्रीति नराइण॥१॥

---

[1] **'आदि ग्रंथ' (गुरू खालसा प्रेस, अमृतसर) पृ० ९७२**

नाम प्रीति नाराइण लागी।
सहजि सुभाइ भइउ बैरागी॥रहाउ॥
जैसी पर पुरषा रत नारी, लोभी नर धन का हितकारी।
कामी पुरुष कामिनी पिआरी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी॥२॥[1] इ०

अर्थात् जिस प्रकार किसी भूखे व्यक्ति को भोजन की चाह रहती है, कोई प्यासा व्यक्ति जिस प्रकार जल के लिए तृषित रहता है, जैसी प्रीति किसी संसारी मनुष्य की अपने परिवार के प्रति हुआ करती है, वैसा ही प्रेम नामदेव का अपने इष्टदेव नारायण के लिए है। जब से नामदेव को नारायण से प्रेम हुआ तब से वह स्वभावतः अन्य ओर से विरक्त हो गया। नामदेव की लगन अपने प्रियतम मुरारी के साथ वैसी ही है जैसी किसी स्त्री की किसी पर पुरुष के प्रति होती है, किसी लोभी की अपने धन मे होती है अथवा जैसी किसी कामी पुरुष की किसी कामिनी के प्रति हुआ करती है। नामदेव अपने उस इष्टदेव के प्रेम में इस प्रकार लीन रहा करते हैं कि वे सर्वथा उसीके हो जाते हैं और किसी भी दृष्टि से उसीके बने रहते हैं, इसीलिए वे अपने प्रियतम के प्रति कहते हैं,

जहाँ तुम गिरिवर तहाँ हम मोरा।
जहाँ तुम चंदा तहाँ चकोरा॥
जहाँ तुम तरूवर तहाँ हम पंछी।
जहाँ तुम सरोवर तहाँ हम मच्छी॥ध्रुव॥
जहाँ तुम दीवा तहाँ हम बाती।
जहाँ तुम पंथी तहाँ हम साथी॥ इ०[2]

अर्थात् चाहे जिस रूप में तुम रहो, मै तुमसे पृथक् नहीं रह सकता।

---

[1] **'आदि ग्रंथ' (गुरू खालसा प्रेस, अमृतसर), पृ० ११६५**
[2] **'नामदेव गाथा' (चित्रशाला प्रेस, पुणें), पृ० ५१३-४**

सत नामदेव ने अपने इष्टदेव के प्रति, इस प्रकार, सच्ची लगन का परिचय दिया है। उनका प्रेम शुद्ध, सरल ओर स्वाभाविक है और उसमे किसी प्रकार की भी मलिनता वा कृत्रिमता के लिए कोई स्थान नही है। इसी निश्चल, नि स्वार्थ और अहेतुक प्रेम को सतो ने 'सहज' भाव का नाम दिया ह ओर इसे ही वे अपने सप्र्ण जीवन का दृढ आधार बना लेना चाहते हैं। यह प्रेम उनके जीवन-सबधी दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन ला देता है और उनके लिए सारा विश्व ही प्रियतममय भासने लगता है। वह किसके साथ पृथक् रूप मे अपना प्रेम प्रकट कर और किसके साथ विरोध करे? उन्हे उस दशा मे किसी तथाकथित सासारिक विषय के प्रति किसी प्रकार का विरक्ति-भाव भी प्रदर्शित करना नही पडता। वे सभी उनको मनोवृत्ति के अनुकूल पडते दिखलाई देते है। इस कारण वे उनके उचित मूल्य का परिचय प्राप्त कर उनके सदुपयोग की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ओर उनके द्वारा अन्य को भी उपकृत करते है। सतो को समाज को ओर से विमुख हो जाने की आवश्यकता नही पडती, वे उसीमे रहते है और उसे पूर्णत सुधारने की चेष्टा करते है। वे अपने आदर्श जीवन का प्रभाव क्रमश अन्य व्यक्तियो पर भी डालते रहते है जिससे, अत मे, सारे विश्व के सुधार की आशा बँध जाती है और इस प्रकार के अनुमान को दृढ आधार मिलने लगता है कि 'पृथ्वी पर स्वर्ग का लाना' कोई असभव बात नही है।

कबीर साहब ने प्रेम के इस महत्त्व को भली भाँति समझा है और वे अपने सद्गुरु के सकेतानुसार प्राप्त प्रेम के प्रभाव का वर्णन करते हुए बतलाते है कि जिस समय मुझ पर प्रसन्न होकर उन्होने प्रेम का प्रसग छेड दिया और उसका मुझे परिचय दिला दिया, उस समय मेरे ऊपर प्रेम के बादल ने वृष्टि की झडी लगा दी और मेरा सारा अग भीग गया। वह बादल मेरे ऊपर इतना बरसा कि उसके कारण भीतर मेरी आत्मा तक सराबोर हो गई और बाहर (जो विश्व की वस्तुए मुझे नीरस प्रतीत

होती थी वे उसी क्षण से) सारी की सारी रसमयी बन गईं। कबीर साहब के ही शब्दों में—

सतगुरु हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥३३॥
कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ ॥३४॥[1]

परन्तु सद्‌गुरु का उपर्युक्त प्रकार से 'रीझना' कोई सरल बात नहीं है और न, इसी कारण, हम प्रेमभाव की उस उपलब्धि को ही एक साधारण घटना के रूप में देख सकते हैं। इसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करना पड़ जाता है। प्रेम कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी खेत में उगती हो अथवा जो किसी बाजार में द्रव्य द्वारा खरीदी जा सकती हो। इसे जो चाहे वही प्राप्त कर सकता है, किंतु इसके लिए उसे अपना सिर तक सौंप देना पड़ता है।[2] इसके लिए वही मनोवृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है जिसके साथ एक मृग अपने व्याध के प्रति अपना तन-मन समर्पित कर देता है और उसका संगीत सुनने लगता है।[3] प्रेमभाव की यथावत् उपलब्धि के लिए सद्‌गुरु की शरण का एकांत आश्रय लेकर उसका उपदेश ग्रहण करना पड़ता है। जब तक उसमें 'अर्पित मनोबुद्धि' होकर उसके निकट न जाय तब तक प्रेम के बादल का बरसना असंदिग्ध नहीं। संतों के अनुसार सद्‌गुरु एवं राम एक और अभिन्न हैं, अतएव प्रथम के प्रति प्रदर्शित मनोवृत्ति का फल द्वितीय में

---

१ **'कबीर ग्रंथावली' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४**

२ **प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।**
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥—वही, पृ० ७०

३ **ऐसा कोई ना मिलै, राम भगति का मीत।**
तन मन सौंपै मृग ज्यूं, सुनैं बधिक का गीत ॥३॥ (क० ग्रं०) पृ० ६६

प्रकट हो जाता है। कबीर साहब ने इस आत्म-समर्पण के भाव का परिचय अपने शब्दों में इस प्रकार भी दिया है,

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै मेरा॥३॥[1]

फिर भी, इतना त्याग करने पर भी, यह निश्चित नहीं कि वह प्रेमभाव हमें सदा एक समान आनन्द विभोर बनाये रहे। सच्चे प्रेम के साथ-साथ उसके दूसरे पहलू अर्थात् विरह का भी संचार होता रहना आवश्यक है। प्रियतम की वास्तविक और अंतिम उपलब्धि के लिए केवल हंसते हुए जीना और उसके लिए कष्ट झेलना एवं रुदन का न करना बेकार हो जाता है। इसलिए विरह को बुरा न कह कर उसे सुलतान की पदवी प्रदान करनी चाहिए; जिस शरीर में वह नहीं आता वह स्मशान तुल्य है—

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं करि चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥२७॥
बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥२१॥[2]

बात यह है कि विरह भाव हमारे सारे शरीर एवं मनोदशा को उस प्रियतम से ओतप्रोत किए रहता है जिस कारण सदा हम उसके साथ एक प्रकार के सान्निध्य का ही अनुभव करते रहते हैं और उससे हम अपनी ओर आने का मूक अनुरोध जैसा करते रहते हैं। कबीर साहब का कहना है कि विरह के कारण अपना शरीर रबाब का बाजा बन जाता है और उसके लिए इसकी नसें ताँतों का काम करती हैं और उनकी झंकार से जो स्वर

---

[1] **'कबीर ग्रंथावली' (नागरी प्रचारणी सभा, काशी), पृ० १९**

[2] **वही, पृ० ९**

निकलता है उसे स्वभावत: प्रियतम और विरही के अतिरिक्त और कोई भी नहीं सुन पाता; जैसे,

सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै सांई कै चित्त ॥२०॥[1]

उस समय विरही की ओर से ऐसा प्रयत्न हुआ करता है जो अन्य दशा में संभव नहीं। विरही, कबीर के शब्दों में, ऐसे उद्योग में रहता है,

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सीचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥२३॥[2]

अर्थात् उसकी यही अभिलाषा रहती है कि अपने प्रियतम को प्रत्यक्ष करने के लिए में अपने शरीर को दीपक बना डालूँ, उसमें अपने प्राणों को बत्ती जला दूँ और उसे अपने रक्त से सदा सींचता रहूँ जिससे उसके प्रकाश में उसे किसी प्रकार देख पाऊँ। वास्तव में, इन प्रयत्नों का भी रूप ठीक वही है जो उपर्युक्त आत्म-समर्पण की दशा में दीख पड़ता है।

कबीर साहब ने इस विरह की ही भाँति अपने प्रियतम के मिलन का भी वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है जिसे उन्हींके शब्दों में संक्षेपत: यों दे सकते हैं—

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥१३॥
भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि ॥१८॥
थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥२९॥

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १२-४

[2] वही, पृ० ९

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कह्या न जाइ।
ज्वाला तें फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥३१॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब देख्या दीपक मांहि ॥३५॥
ममिता मेरी क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥४८॥[1]

अर्थात् शरीर में प्रेम के प्रकाशित हो जाने पर 'अनंत जोग' अथवा शाश्वत सम्मिलन की दशा उपस्थित हो गई; सारा संशय दूर हो गया और (अपने ही भीतर) अपने प्रियतम के साथ संयोग हो गया। ऐसी भली स्थिति के आते ही भय सदा के लिए जाता रहा और अपनी पूर्व स्थिति विस्मृत हो गई; अब ऐसा जान पड़ता है जैसे तरल जल से घना अथवा ठोस रूप ग्रहण कर लेने वाला हिमखंड घुल कर फिर एक बार अपनी तरलावस्था में आ गया और धीरे से प्रवाहित होकर अपने मूल सागर में मिल गया। अब मेरे चंचल मन को स्थिरता मिल गई और सद्गुरु की सहायता से मेरे प्रियतम ने मेरे भीतर एक अपूर्व दशा उपस्थित कर दी। शरीर के ही भीतर मन इस प्रकार मान गया कि बाहर उसका वर्णन करना असंभव हो गया; जो विरह पहले ज्वाला के रूप में मुझे दग्ध कर रहा था वही शीतल प्रेम-जल में परिणत हो गया और भीतर की आग, इस प्रकार, अपने ही आप शांत हो गई। उस प्रेम के प्रकाश में जब मैंने अपने भीतर की परीक्षा की तो समझ पड़ा कि जब तक मुझमें 'मैं' अथवा अहंता का भाव था तब तक वहाँ मेरे प्रियतम हरि का अस्तित्व नहीं था और जब इस प्रकाश में अंधकार दूर हो गया है तो अब वहाँ केवल हरि ही हरि दिखलाई पड़ते हैं, मेरा अस्तित्व अब नहीं रह गया, अब उस 'मैं' का वश मेरे ऊपर कुछ भी नहीं चल सकता, अब तो प्रेम ने सारा पर्दा ही उठा दिया; अब उस 'दयाल'

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १३-४

प्रियतम का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो गया और जो-जो बातें आज तक मुझे काँटे की भाँति सालती रहती थी वही मेरे लिए सुख-शय्या बन गईं।

कबीर साहब ने प्रेम द्वारा उपलब्ध संयोगावस्था को 'अनिन' बतलाया है जो अनन्य अर्थात् अद्वितीय और अपूर्व स्थिति का परिचायक है और जो प्रेमभाव के लिए सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्रेमभाव किसी द्वैत की स्थिति को सहन नही कर सकता और न प्रेमी एवं प्रेमपात्र के बीच का व्यवधान उसके उदय हो जाने पर कभी टिक सकता है। कबीर साहब जैसे अद्वैतवादी व्यक्ति के लिए व्यवधान का सूचक अपनी 'अहंता' ही रहा करती है। विरह की आँच में पड कर, अंत में, वह भी नष्ट हो जाती है और फिर सर्वत्र तद्रूपता और तदाकारता की दशा आ जाती है। और जब 'अहंता' जैसी वस्तु भी उस प्रेम के सामने ठहर नही पाती है तो जो-जो बातें, मूलतः उसीके कारण, कष्टदायक बन रही थी वे कहाँ रह सकती है? उसके नष्ट हो जाने पर उनका भी विष आप से आप दूर हो गया और उन्होंने भी सुखप्रद रूप ही धारण कर लिया। अहंता के मिट जाने पर अब इस अपूर्व दशा का कोई वर्णन करने वाला भी नही रह जाता। इसी कारण, प्रेम की अकथनीयता भी है।

कबीर साहब के समसामयिक संतों में रैदास ने भी प्रेमभाव का वर्णन बडे अच्छे ढंग से किया है। उनकी रचनाओं में हमें उनके हृदय की कोमलता और भावुकता बहुत स्पष्ट रूप में व्यंजित हुई दीख पड़ती है। अपने निर्गुण और निराकार प्रियतम के प्रति अपनी, उसके साथ खुल कर न मिल सकने की, विवशता का परिचय देते हुए वे एक स्थल पर कहते हैं—

नरहरि चंचल है मति मोरी।
कैसे भगति करूँ मै तेरी ॥टेक॥

तूं मोहिं देखै हौं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई।
तूं मोहिं देखै तोहि न देखूं, यह मति सब बुधि खोई ॥१॥[1]इत्यादि

अर्थात् हे नरहरि, इस बात के कारण मेरा हृदय बेचैन हो रहा है कि मैं तेरी भक्ति किस प्रकार करूँ। यदि, तू मुझे जिस प्रकार देखा करता है उसी प्रकार, मैं भी कहीं तुझे देख पाता तो मेरी और तेरी प्रीति पारस्परिक हो जाती। परंतु जब मुझे जान पड़ता है कि तू तो मुझे देख रहा है, किंतु मैं तुझे देखने में असमर्थ हूँ तो मेरी बुद्धि पंगु बन जाती है। समझ नही पड़ता मैं क्या करूँ। परंतु फिर भी ये अपने प्रियतम 'रामराय' के प्रति अपना अटूट संबंध प्रदर्शित करना चाहते हैं और कहते हैं—

जउ हम बांधे मोह फांस, हम,
प्रेम बंधनि तुम बांधे।
अपने छुटन को जतनु करहु,
हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी,
अब कहा करहुगे ऐसी ॥रहाउ॥
मीनु पकरि फांकिउ अरु काटिउ,
रांधिकीउ बहु बानी।
खंड खंड करि भोजनु कीनो,
तऊ न बिसरिउ पानी ॥२॥इत्यादि[2]

अर्थात् यद्यपि मैं स्वयं मोहपाश में बँधा हूँ फिर भी मैंने तुम्हें अपने प्रेम के बंधन में डाल रखा है। तुम अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करो, मैं तो तुम्हारी ही आराधना से, तुम्हें प्रसन्न कर के मुक्त हूँ। हे माधव, तुम तो

---

[1] 'रैदासजी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ७
[2] 'आदि ग्रंथ' (गुरु खालसा प्रेस, अमृतसर), पृ० ६५७

तथ्य से भलीभाँति परिचित हो। मछली को यदि काट-कूट कर कई ढंग मे पका दिया जाय और उसे खंडशः खाया जाय तो भी वह पानी का संबंध नहीं भूलती, खाने वाले में प्यास उत्पन्न करती है।

कबीर साहब के अनंतर, प्रमुख संतों में, गुरु नानकदेव (मृ० सं० १५९५) का नाम आता है जो सिख धर्म के प्रवर्तक थे। गुरु नानकदेव भी, प्रायः कबीर साहब की ही भाँति, अद्वैतवाद के समर्थक थे और अपने इष्ट-देव को एक और अद्वितीय कहा करते थे। उनकी रचनाओं में भी हमें विरह एवं प्रेम का वर्णन उनकी अपनी दशा के ही परिचय द्वारा किया गया मिलता है। वे अपने को उस प्रियतम के नामस्मरण तक का सच्चा प्रेमी बतलाते हैं और इस साधना में वे एक क्षण के लिए भी विश्राम लेना नहीं चाहते। नामस्मरण उन्हें उस प्रियतम के साथ सदा संयोगावस्था में रखे रहता है और इसका विराम उन्हे उससे विमुक्त कर देता है। कहा जाता है कि गुरु नानकदेव, अपने साथी 'मर्दाना' के साथ, उस नाम के कीर्तन में तल्लीन और आनंदविभोर हो जाते थे। गुरु नानकदेव अपने प्रियतम को सर्वत्र देखते है और उसे प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के साथ भी अनुभव करते हैं। अतएव, वे स्वभावतः किसी प्रकार के बाह्य पूजन वा अर्चन का आयोजन नही करते। वे अपने इष्टदेव की 'आरती' तक उन प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा ही उतारते जान पड़ते है जो सूर्य एवं चंद्रादि के रूप में इस विश्व के भौतिक अंग बने दीखते हैं। गुरु नानक के लिए उनका प्रियतम ही विश्वरूप में उपस्थित है और उसका स्वागत भी आपसे आप हो रहा है जिसे देख वे आनंदित हैं।

गुरु नानकदेव की निम्नलिखित 'आरती' उनके उक्त भाव के उदाहरण में दी जा सकती है—

गगन मैं थालु रवि चंदु दीपक बने,
तारिका मंडल जनक मोती।

धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे,
सगल बनराइ फूलंत जोती ॥१॥
कैसो आरती होइ भवखंडना, तेरी आरती,
अनहता सबद बाजंत भेरी ॥रहाउ॥
सहस तव नैन नन नैन है तोहि कउ,
सहस मूरति नना एक तोही।
सहस पद विमल नन एक पद गंध बिन,
सहस तव गंध इव चलत मोही ॥२॥
सभ महि जोति जोति है सोई।
तिसकै चानणि सभ महि चानणि होइ॥
गुरु साखी जोति परगटु होइ।
जो तिसु भावै सु आरती होइ॥३॥[१] इत्यादि

अर्थात् मेरे प्रियतम की आरती उतारने के लिए विस्तृत आकाश थाल का काम करता है जिसमें सूर्य एवं चंद्रमा दोनों दीपक बने हुए हैं और तारे मानो उस थाल में जडे हुए मोतियों की भाँति जगमग कर रहे हैं। मेरे प्रियतम की आरती उतारते समय मलयानिल पवन धूपदान करता है और चँवर भी डुलाता है और उस पर पुष्प चढ़ाने के लिए सारी वनराजि अपने फूलों को लिए प्रस्तुत है। इसके सिवाय, जहाँ पर, बिना किसी आघात के पहुँचाए, अनहद शब्द की भेरी अपने आप बज रही है वहाँ पर, हे मेरे भव-खंडन प्रियतम, तुम्हारी आरती और किस प्रकार की जाय? (तुम्हें निराकार मानता हुआ भी) मै तुम्हारे सहस्रों नेत्र अपने समक्ष देख रहा हूँ और सहस्रों मूर्त्तियों में तुम्हारी ही मूर्त्ति को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मुझे जान पड़ता है कि तुम्हारा एक पैर भी न होने पर तुम्हारे सहस्रों चरण वर्त्तमान है और

---

[१] 'आदि ग्रंथ' (गुरू खालसा प्रेस, अमृतसर), पृ० ६६२

तुम्हारे निर्गंध होने पर भी तुम सहस्रों वस्तुओं में सुगंधि बन रहे हो। सद्गुरु के संकेतों पर जब वह परम ज्योति अपने भीतर प्रकट हो गई तो सर्वत्र वही एक ज्योति दीख पड़ने लगी और उसीके प्रकाश द्वारा सभी कुछ प्रकाशित जान पड़ने लगा। (अब तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि) जो कुछ उस मेरे प्रियतम को भली जँचे वही उसकी आरती के लिए प्रस्तुत सामग्री बन जाती है।

इस काल के अंतर्गत गुरु नानकदेव के अतिरिक्त गुरु अंगद (मृ० सं० १६०९), गुरु अमरदास (मृ० सं० १६३१), गुरु रामदास (मृ० सं० १६३८) और गुरु अर्जुनदेव (मृ० सं० १६६३) ने भी अपनी-अपनी रचनाएं कीं और उन्होंने भी अपने अलौकिक प्रेम के प्रदर्शन में गुरु नानकदेव का ही अनुसरण किया। इसी प्रकार शेख़ फरीद (मृ० सं० १६०९), संत सिंगाजी (मृ० सं० १६१६) और भीषमजी (मृ० सं० १६३१) ने भी अपनी रचनाओं में प्रेमभाव प्रकट किया। इन सभी की वर्णन-शैली प्रायः एक ही प्रकार की थी जो कुछ-कुछ सूफ़ी कवियों द्वारा भी प्रभावित जान पड़ती थी। इसी काल के एक महान् संत कवि दादूदयाल (मृ० सं० १६६०) भी थे जिन्होंने दादू पंथ का प्रवर्त्तन किया था। दादूदयाल जाति के धुनियां थे और कबीर साहब को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार करते थे। उन्होंने भी प्रेम एवं विरह पर बड़ी सुन्दर रचनाएं की हैं। दादूदयाल के अनुसार इश्क़ अर्थात् प्रेम स्वयं अलह अर्थात् परमात्मा का व्यक्तित्त्व है, उसका अंग है, उसका रंग है और उसका अस्तित्त्व तक है; प्रेम एवं परमात्मा वस्तुतः एक और अभिन्न हैं, दोनों में कोई अंतर नहीं, जैसे,

इश्क़ अलह की जाति है, इश्क़ अलह का अंग।
इश्क़ अलह औजूद है, इश्क़ अलह का रंग॥१५२॥[1]

---

[1] **'श्री स्वामी दादूदयाल की वाणी' (पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी), पृ० ६१**

फिर यदि 'सहज' अथवा परमात्मा को हम एक सरोवर के रूप में मान लें तो प्रेम को हम उसकी तरंग कहेंगे जहाँ पर मन और आत्मा अपने प्रियतम के साथ हिलोरों पर सदा झूला करते हैं। इसीलिए दादूदयाल का कहना है कि मुझे यही सबसे अधिक पसंद है कि मैं प्रेम के प्याले में 'राम' का रस पीता रहूँ; मुझे अन्य किसी भी वस्तु की चाह नही। जो लोग ऋद्धि-सिद्धि अथवा मुक्ति के अभिलाषी हों उन्हे वे वस्तुएं दी जाय, मुझे उनकी आवश्यकता नही है; जैसे,

दादू सरवर सहज का, तामैं प्रेम तरंग।
तंह मन झूलै आतमा, अपणें साई संग ।।७३।।[1]
प्रेम पियासा रामरस, हमकौं भावै येह।
रिधि सिधि मांगै मुकति फल, चाहै तिनकौं देह ।।८३।।[2]

दादूदयाल के यहाँ विरह का बहुत बडा महत्त्व है और वे उसे प्रेम के पूर्व रूप की दशा मे स्वीकार करते है। उनका कहना है,

पहिली आगम विरह का, पीछै प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन, तहां मिलन की आस ।।९९।।[3]
प्रीति न उपजै विरह बिन, प्रेम भगति क्यों होइ।
सब झूठे दादू भाव बिन, कोटि करै जो कोइ ।।११०।।[4]

अर्थात् पहले विरह का आगम होता है, तब उसके अनतर प्रीति प्रकट होती है और मन के प्रेममग्न होने पर मिलन की आशा बंधती है। बिना

---

[1] **'स्वामी दादूदयाल की वाणी', पृ० ७३**
[2] **वही, पृ० १३७**
[3] **वही, पृ० ५५**
[4] **वही, पृ० ५६**

विरह के प्रीति उत्पन्न नही हो सकती, फिर प्रेम भक्ति कैसे संभव है। चाहे कुछ भी कीजिए भाव के बिना सभी व्यर्थ है। वे कहते हैं—

विरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति कौं, पंच पुकारैं पीव ॥१२५॥[1]
प्रीति जु मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिव करै, दादू दूसर नांहि ॥१३४॥[2]

अर्थात् विरह के कारण विरही के भीतर एक प्रकार का मीठा दर्द जग जाता है जो क्रमशः जीव को उद्बुद्ध कर देता है और वह तब सुरति को जागृत कर देता है जिससे पंचेंद्रियाँ एक साथ प्रियतम को पुकारने लगती हैं। प्रियतम की प्रीति ज्योंही शरीर में प्रवेश करती है त्योंही प्रत्येक रोम 'पिव, पिव' की पुकार मचा देता है और दूसरी किसी बात का विचार तक नही करता। दादूदयाल की यह भी धारणा है कि अलह का इश्क़ जब प्रकट होता है तो शरीर मन एवं दिल और रूह के सभी पर्दे अर्थात् आवरण जल कर भस्म हो जाते हैं। विरहाग्नि की ज्वाला में मन के वे सभी विकार नष्ट हो जाते हैं जिनके कारण उसमें अस्थिरता आ गई रहती है और वह पंगुल बन कर अपने द्वार पर ही प्रियतम को प्रत्यक्ष कर लेता है; जैसे,

दादू इश्क़ अल्लाह का, जे कबहूँ प्रगटै आइ।
तौ तन मन दिल अरवाह का, सब पड़दा जलि जाइ ॥६९॥[3]
विरह अगनि मैं जलि गये, मन के विषै विकार।
ताथैं पंगुल ह्वै रह्या, दादू दरि दीदार ॥१४२॥[4]

---

[1] 'स्वामी दादूदयाल की वाणी' (पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी), पृ० ५८

[2] वही, पृ० ५९।

[3] वही, पृ० १५२

[4] वही, पृ० ६०

परंतु दादूदयाल का कहना है कि इस प्रकार के दर्शन मात्र से भी हमें तृप्ति नहीं होती। प्रेमजन्य पिपासा वाले के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक रोम उसकी रसना में परिणत हो जाय और उसके द्वारा उस रस का निरंतर पान करता रहे। दादूदयाल के अनुसार वही सच्चा एवं जागरूक प्रेमी है जिसका प्रेम आदि से लेकर मध्य और अंत तक निरंतर एकरस बना रहे, उसका धागा बीच में कहीं से न टूटने पाये और वह अपने प्रियतम के साथ लीन होकर एक और तद्रूप भी हो जाय --

रोम रोम रस पीजिये, एती रसनां होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिन तृप्ति न होइ ॥३२७॥[1]
आदि अंति मधि एक रस, टूटै नहिं धागा।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा ॥४२॥[2]

दादूदयाल ने इस प्रकार के अलौकिक प्रेम का नाम 'भगति' भी दिया है और बतलाया है कि 'भगवंत' की भगति अपनी देह के भीतर निरंतर होती रहनी चाहिए और उसमें एक क्षण के लिए भी किसी व्यवधान का आना ठीक नहीं। उनका कहना है कि मेरा प्रियतम सदा मेरे भीतर वर्त्तमान रहा करता है और वही सर्वत्र ओतप्रोत भी है; जैसे,

भगति भगति सब को कहै, भगति न जाणै कोइ।
दादू भक्ति भगवंत की, देह निरंतर होइ ॥२८०॥
देही मांहै देव है, सब गुण थैं न्यारा।
सकल निरंतर भरि रह्या दादू का प्यारा ॥२८१॥[3]

दादू दयाल इस प्रकार के प्रेम की विशेषता एक यह भी बतलाते हैं कि

---

[1] 'स्वामी दादूदयाल की वाणी' (पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी), पृ० १०७
[2] वही, पृ० १२६
[3] वही, पृ० १०१-२

इस इश्क़ में आशिक़ और माशूक़ अर्थात प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों एक हो जाते हैं तथा जो पहले माशूक़ के रूप में था वही आशिक़ की भाँति आचरण करने लगता है। जब 'सेवग' अर्थात् भक्त ने अपनी सेवा के उपलक्ष में अपना सभी कुछ अर्पित कर दिया तो स्वामी उसके वशीभूत हो जाता है और वह अपने सेवक के दरबार में स्वयंसेवक के रूप में उसकी सेवा करने लगता है; जैसे,

आसिक़ मासूक़ ह्वै गया, इसक़ कहावै सोइ।
दादू उस मासूक़ का, अल्लहि आसिक़ होइ ॥१४७॥[1]
दादू सेवग सांई बस किया, सौंप्या सब परिवार।
तब साहिब सेवा करै, सेवग के दरबार ॥२७३॥[2]

इसी धारणा के अनुसार, कदाचित् संत हरिदास निरंजनी (मृ० सं० १७००) ने भी कहा है कि मेरा मन हरि के साथ इस प्रकार लगा हुआ है कि वे मेरे मन में पूर्णतः व्याप्त हो गए हैं; न तो मैं उन्हें छोड़ पाता हूँ और न वे ही मुझे छोड़ते हैं; जैसे,

मेरा मन हरिसूं लग्या, हरि मेरा मन मांहि।
मैं हरिकूं छाड़ों नहीं, हरि मोहि छाड़े नांहि ॥[3]

सूफ़ी कवि और संत कवि, दोनों ही, अलौकिक प्रेम का वर्णन करते हैं और दोनों का प्रेमास्पद भी लगभग एक ही प्रकार का है। फिर भी दोनों की वर्णन-शैली में महान् अंतर भी लक्षित होता है। सूफ़ी कवि जहाँ अपने अलौकिक प्रेम का वर्णन करते समय लौकिक प्रेम का सहारा लेता है और उसीके पात्रों को माध्यम बना कर अपने भावों का व्यक्तीकरण करना

---

१ 'स्वामी दादूदयाल की वाणी' (पं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी), पृ० ६०
२ वही, पृ० १००
३ 'श्री हरिपुरुष की वाणी' (देवादास, जोधपुर), पृ० ३५३

चाहता है वहाँ संत कवि को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह अपनी निजी अनुभूतियों का ही विवरण प्रस्तुत कर देता है। इसी प्रकार सूफ़ी कवि अपने प्रेम का प्रकाशन करते समय अपने प्रेमास्पद को स्त्री के रूप में स्वीकार करता जान पड़ता है, यद्यपि उसकी प्रेमगाथाओं में प्रायः इस बात के भी उदाहरण मिलते हैं कि प्रेमपात्री का रूप अपने प्रेमी के प्रति एक प्रेमिका का भी आचरण करता है और दोनों में पारस्परिक प्रेम लगभग एक समान काम करता रहता है। किंतु संत कवि अपने प्रेमपात्र को उक्त प्रकार से चित्रित करना पसंद नहीं करता, अपितु स्वयं ही उसकी पत्नी का रूप ग्रहण कर लेता है। संत कवि को, वास्तव में, अपने प्रेमास्पद के साथ केवल एक ही संबंध के स्थापित करने में पूरा संतोष नहीं होता। वह उसे कई अन्य रूपों में भी देखने का प्रयत्न करता रहता है जिसके उदाहरण सभी संत कवियों की रचनाओं में दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय सूफ़ी कवि अपने प्रेमास्पद की ओर, सर्वप्रथम, उसके रूप-सौंदर्य द्वारा आकृष्ट होते जान पड़ते हैं, किंतु संत कवि अपने को इस विषय में भी बाध्य करना नहीं चाहता और उसे अधिकतर अरूप एवं अनिर्वचनीय कह कर ही छोड़ देता है। वह उसे 'नूर' अर्थात् दिव्य ज्योति से कहीं अधिक शुद्ध 'सत्' वा सत्य के रूप में अनुभव करना चाहता है जिसके संबंध में केवल 'है' मात्र से ही संकेत किया जा सकता है; उस पर किसी प्रकार के भी गुण का आरोप करना असंगत प्रतीत होता है। सूफ़ी कवि अपने प्रेमास्पद के प्रति विरह प्रदर्शित करने तथा उसके लिए प्रयत्न करने का वर्णन बड़े विस्तार के साथ करते हैं। किंतु संत कवि उसके साथ अपनी संयोगावस्था का भी अच्छा परिचय देते हैं और ऐसा करते समय मस्त से बन जाते हैं। विरह के विशद रूप में व्यक्तीकरण के लिए दादूदयाल और उसी प्रकार मिलनभाव की सुंदर व्यंजना के लिए कबीर साहब प्रसिद्ध हैं।

५. मध्यकालीन कृष्ण-काव्य एवं राम-काव्य

अलौकिक प्रेम वा भक्ति के प्रदर्शन की जिस पद्धति का अनुसरण इस काल के वैष्णव भक्त कवियों ने किया वह सूफ़ी एवं संत कवियों की उपर्युक्त वर्णन-पद्धति से कई बातों में भिन्न थी। सूफ़ी कवियों ने अपने प्रियतम परमात्मा का परिचय उसकी केवल स्तुतियों द्वारा दिया था और उसे अपने मे परोक्ष-सा बतलाते हुए उसे पाने के मार्ग की ओर संकेत किया था। वे उसे संपूर्ण अलौकिक गुणों का आधार जैसा समझते थे, वे उसे व्यक्तित्त्व भी देते थे, किंतु उसके प्रत्यक्ष कर पाने में उन्हें विश्वास नहीं था और न वे उसे अपनी काया के बाहर कहीं ढूँढने के प्रयत्न ही किया करते थे। वैष्णव भक्त कवियों ने उस परमात्मा को सगुण और साकार भी माना तथा उसके संबंध में यह भी कल्पना की कि वह अपने अलौकिक रूप में किसी बैकुंठ, गोलोक वा साकेत जैसे 'धाम' में नित्य निवास करता है और लौकिक रूप में यहाँ अवतीर्ण भी होता रहता है। इस अवतार के रूप में उन्होंने उसकी विविध लीलाओं की भी कल्पना की जिन्हें उन्होंने भक्तों के लिए आवश्यक बतलाया। सूफ़ी कवियों की लौकिक प्रेमगाथाओं के स्थान पर इन वैष्णव कवियों ने उन लीलाओं का ही वर्णन किया और इस प्रकार अपने इष्टदेव के शील एव सौंदर्य के कथन द्वारा क्रमशः उसके निकट होते जाने में अपना विश्वास प्रकट किया। सूफ़ी कवि उस परमात्मा के प्रति अपना संबंध अधिकतर इस प्रकार प्रकट करते थे जैसे वह उनकी प्रेयसी हो। परन्तु इन वैष्णव कवियों ने उसे अधिकतर अपने स्वामी के रूप में अपनाया और उसे कभी-कभी अपना पिता अथवा पति तक ठहराया। उसे वे कभी-कभी किसी अलौकिक बालक के रूप में भी देखना चाहते थे और कभी स्वयं अपने को किसी ऐसी

स्थिति में रखना चाहते थे जहाँ से वे उसे अथवा उसकी युगल मूर्त्ति (राधा एवं कृष्ण) को किसी सखा, सखी वा परिचारिका के रूप में अपना सेवाभाव दिखला सकें।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में इन वैष्णव कवियों की रचनाएं दो भिन्न-भिन्न परंपराओं में विभक्त की जाती है जिन्हें क्रमशः कृष्ण-काव्य-परंपरा एवं राम-काव्य-परंपरा के नाम दिए जाते हैं। इस भक्ति-काल के अंतर्गत ये दोनों ही परंपराएं प्रचलित थी और इन दोनों में ऐसी उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत की गई जिनके समकक्ष ग्रंथों का मिलना बहुत कठिन है। कृष्ण-काव्य-परंपरा का प्रमुख विषय श्रीकृष्णावतार की लीलाओं से संबंध रखता था। वे लीला पुरुषोत्तम कहे जाते थे और इन काव्य-ग्रंथों में उनकी उन लीलाओं की चर्चा विशेष रूप से की गई जो उनके बाल्यकाल से लेकर उनकी युवावस्था तक की समझी गई। बालक श्रीकृष्ण के प्रति उनसे अवस्था में बड़े, गोप गोपी तथा नंद यशोदादि का स्नेहभाव दर्शाया गया, किशोर श्रीकृष्ण के प्रति उनके साथ खेलने वाले सखाओं का सखाभाव भी प्रदर्शित किया गया तथा युवक श्रीकृष्ण के प्रति उनके सौदर्य एवं वशी वादनादि पर मुग्ध हो जाने वाली गोपियों तथा विशेषकर उनकी प्रेमिका राधा का मधुरभाव दिखलाया गया। इन विविध भावों का वर्णन करने वाले कवि अपने को, कुछ काल के लिए, उन भिन्न-भिन्न स्थितियों में रख लिया करते थे और उक्त गोप-गोपादि के माध्यम द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित प्रेमभाव के अधिक से अधिक सजीव चित्रण करने की चेष्टा करते थे। इसके सिवाय इन कवियों ने कभी-कभी कतिपय प्रसिद्ध भक्तों के चरित्रों का भी वर्णन किया तथा कभी-कभी अपने इष्टदेव के प्रति प्रकट किए गए अपने उन उद्गारों को पद्यबद्ध किया जिनमें उनके दैन्य एवं श्रद्धादि का प्रदर्शन रहा करता था।

कृष्ण-काव्य-परंपरा के कवियों के अपने-अपने संप्रदाय भी थे और इस कारण उनकी रचनाओं में कभी-कभी अंतर दिखलाई पड़ता था।

इस काल के अधिक ऐसे कवियों का संबंध वल्लभ संप्रदाय के साथ था जिसकी साधना पुष्टिमार्गी थी। इसके अनुयायी अपनी भक्ति के लिए भगवत्कृपा को बहुत बड़ा महत्त्व देते थे और उनकी धारणा थी कि बिना उसकी दया के कुछ भी नहीं हो सकता। वे अपने को प्रायः उस बालक की दशा में रखना चाहते थे जो अपने माता-पिता के सामने किसी बात के लिए मचल कर रोने लगता है और उसकी करुण-भरी चेष्टाओं से द्रवित होकर उन्हें उसे, अंत में, गले लगा लेना पड़ता है। वे इस बात को कभी-कभी राधा द्वारा कृष्ण के प्रति प्रदर्शित किए जाने वाले मान के प्रसंग में भी दिखलाते थे और मानिनी राधा की विजय से इसको उदाहृत किया करते थे। वल्लभ संप्रदाय के उन प्रमुख कवियों ने जिनकी गणना अष्टछाप में की जाती है स्त्रीभाव की भक्ति का ही अधिक परिचय दिया है और उसे राधा एवं श्रीकृष्ण की विविध क्रीड़ाओं तथा गोपियों के साथ उनकी रासलीलादि के प्रसंगों में प्रकट किया है। श्रीकृष्ण की प्रेमिका गोपियों में से कुछ अविवाहिता और कुछ विवाहिता भी थीं और साधारणतः वे परकीया कही जा सकती हैं। किंतु अष्टछाप के कवियों ने उन्हें इस रूप में चित्रित किया है जिससे वे स्वकीया-सी प्रतीत होती हैं और इसका कारण यह जान पड़ता है कि इन भक्तों ने उनका संबंध, कदाचित्, पूर्वकालीन मान लिया है। राधा को तो इन कवियों ने कहीं-कहीं उसके अविवाहित रूप में ही प्रकट किया है और उसके साथ श्रीकृष्ण की भाँवरी तक फेरी है। सूरदास ने एक स्थल पर इस प्रकार कहा है—

देत भाँवरि कुंज मंडप पुलिन में वेदी रची,
बैठे जु श्यामाश्यामवर त्रैलोक की शोभा लची॥[1]

फिर भी इन कवियों की रचनाओं में परकीया भाव के भी उदाहरण बहुत से मिल जाते हैं। नन्ददास ने तो अपनी 'रूप मंजरी' नामक प्रेमाख्यायिका के अंतर्गत उसकी नायिका द्वारा श्रीकृष्ण को उपपति के रूप में

---

[1] **'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई),** प० ३४३

ही वरण कराया है। वे अपनी 'दसमस्कंध भाषा' नामक रचना में भी इसी प्रकार 'जार बुद्धि' का अनुसरण करने वाली गोपियों की चर्चा करते हैं। अष्टछाप के एक अन्य कवि परमानन्ददास भी अपने एक पद में इस प्रकार कहते हैं—

मैं तो प्रीति स्याम सों कीनी।
कोऊ निन्दो कोऊ बन्दो अब तो यह कर दीनी।
जो पतिव्रत तो या ढोटासों इन्हें समर्प्यो देह।
जो व्यभिचार नन्द नन्दन सों बाढ्यो अधिक सनेह।
जो व्रत गह्यो सो और न भायो मर्य्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायो मोटो संग॥[1]

जहाँ पर ऐसे प्रेम में पड़ने वाली किसी गोपी के मुख से कहलाया है कि अपना शरीर समर्पित कर देने के कारण मैं उस 'ढोटा' श्रीकृष्ण की हो गई हूँ और अब मेरा पतिव्रत उसीके साथ निभाया जा सकता है। वह उस 'व्यभिचार' को 'नन्द नन्दन' के प्रति बढ़े हुए स्नेहाधिक्य से भिन्न नहीं मानती और इस प्रकार होने वाले मर्यादा-भंग को पूरी उपेक्षा की दृष्टि से देखती है।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं और उन्होंने प्रेम के विविध रूपों का वर्णन भी किया है। उनकी रचना 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण की जिस प्रेमिका राधा का वर्णन है वह उनके साथ बचपन से ही खेला करती है। उसको देख कर पहले स्वयं श्रीकृष्ण आकर्षित होते हैं और फिर दोनों बातचीत कर के अपना प्रेम-संबंध बढ़ाते हैं और खेलने लगते हैं। वे उस काल से नित्यशः बाल क्रीड़ा किया करते हैं और श्रीकृष्ण के घर

---

[1] **'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (डा० दीनदयालु गुप्त) के पृ० ६२८ पर उद्धत**

कभी-कभी राधा आने भी लगती है। फिर क्रमशः राधा श्रीकृष्ण की माता यशोदा से भी परिचय प्राप्त कर लेती है और वे उसे प्यार कर के उसकी चोटी गूँथती, नयी ओढ़नी देती, फल एवं मिष्टान्नादि से उसे प्रसन्न करना चाहती तथा उसे कभी-कभी आते-जाते रहने का अनुरोध भी करती हैं। दोनों प्रेमी, इस प्रकार घर के भीतर और बाहर खेला करते हैं और पारस्परिक विश्रब्धभाव के बढ़ जाने पर, कभी-कभी परिहास भी करते हैं। इस ढंग की छेड़छाड़ अन्य गोपियों और श्रीकृष्ण में भी कभी-कभी दीख पड़ती है जो फिर दानलीला, चीरहरण लीलादि में परिणत हो जाती है। राधा तथा अन्य गोपियां श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुरक्त हो जाती हैं कि वे अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। जब श्रीकृष्ण कभी मुरली बजाते हैं अथवा कभी रासलीला का आयोजन करते हैं तो वे उनके निकट अधीरा सी बन कर दौड़ पड़ती हैं। वे जब कभी दूध वा दही बेचने के लिए श्रीकृष्ण के घर की ओर निकलती हैं तो वे प्रेमोन्मत्त होकर गलियों में, 'दही लो', 'दही लो' के स्थान पर, अनजाने, 'हरिलो', 'हरिलो' अथवा 'गोपाल लो', 'गोपाल लो' जैसे कहती हुई सुन पड़ती हैं। सूरदास ने इन सभी बातों को अपने अनेक सुन्दर पदों द्वारा बड़ी निपुणता के साथ चित्रित किया है ।

परंतु सूरदास केवल इतना ही कर के नहीं रह जाते। श्रीकृष्ण के साथ उन प्रेमिकाओं के आमोद-प्रमोद का भी वे वर्णन करते हैं तथा उसी प्रकार उनकी वियोग दशा का भी विवरण देने में नहीं चूकते। अष्टछाप के कवियों ने कहीं-कहीं गोपियों के उस संयोग-सुख का भी चित्रण किया है जिसकी अनुभूति वे, श्रीकृष्ण से पृथक् रहती हुई भी, उनके साथ केवल भाव रूप में मिलने के कारण, किया करती हैं और जो, वस्तुतः, उनके पूर्व राग का ही एक भेद समझा जा सकता है। इस स्थिति में, वे भक्तकवि, अपने को स्वयं भी रख कर, सदा सुख का अनुभव करना चाहते हैं। उनका यह 'भावमय संयोग' लगभग उसी प्रकार का है जैसा निर्गुणोपासक भक्तों का भी अपने प्रियतम की उपलब्धि में दीख पड़ता है। इसके वर्णन में अष्टछाप के कवियों

ने अपनी गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। किंतु फिर भी यह दशा संतों के उस 'भावयोग' से सर्वथा भिन्न जान पड़ती है जो उनकी अद्वैत भावना के कारण एक अनिर्वचनीय ढंग का होता है। वैष्णव भक्तों की उपर्युक्त भावना में प्रायः द्वैतभाव बना रहता है जो किसी भक्त को भगवान् में पूर्णतः तन्मय नहीं होने देता। वह उसके समक्ष रहता है, उसके सान्निध्य का अनुभव करता है और वह आनंदविभोर भी हो जाया करता है। किंतु फिर भी वह उस अकथनीय दशा तक नहीं पहुंच पाता जो किसी बूँद के सागर में मिल कर उसके साथ तदाकारता ग्रहण कर लेने में पायी जा सकती है।

सूरदास ने कृष्ण के साथ गोपियों के मिलन अथवा उनकी संयोगावस्था का वर्णन 'रासलीला' के प्रसंग में किया है। गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वंशीवादन से आकृष्ट होकर उनके निकट एकान्त स्थान में पहुँचती और उनके साथ विहार करती हैं। ऐसे ही किसी अवसर पर हुए श्रीकृष्ण एवं राधा के पारस्परिक अंगस्पर्श और प्रेमालिंगन का वर्णन सूरदास इस प्रकार करते हैं:—

रीझे परस्पर वर नारि।
कंठ भुज भुज धरे दोऊ, सकति नहिं निरवारि।
गौर श्याम कपोल सुललित, अधर अमृत सार।
परस्पर दोउ पियरु प्यारी, रीझि लेत उगार।
प्राण यक द्वै देह कीन्हे, भक्ति प्रीति प्रकाश।
सूर स्वामी स्वामिनी मिलि, करत रंग विलास।।७७।।[1]

अर्थात् प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे पर अनुरक्त हैं, एक ने दूसरे के गले में अपनी बाँह डाल रखी है जिसे एक क्षण के लिए भी हटाना दुष्कर है।

---

[1] 'सूरसागर' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृ० ६७७

एक का कपोल श्याम है तो दूसरे का गौर है और दोनों के अधर सुंदर एवं अमृतरसपूर्ण हैं; वे दोनों प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे पर अनुरक्त होकर 'उगार' का आदान प्रदान करते हैं और आनंदित होते हैं। वे दोनों दो शरीर और एक प्राण ह और उनके द्वारा भक्ति एवं प्रीति का प्रादुर्भाव होता है; सूरदास के स्वामी श्रीकृष्ण और स्वामिनी राधा एक साथ रंग विलास करते हैं। इसी प्रकार एक अन्य पद में वे किसी ब्रज तरुणि के साथ श्रीकृष्ण के मिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्यारी देखि विह्वल गात।
नन्द नन्दन देखि रीझे, अंक भरि लपटात।
कबहुँ लेहिं उछंगि बाला, कहि परस्पर बात।
प्रेम रस करि मिले दोऊ, नयन मिलि मुसुकात।
रास रस कामना पूरण, रैनि नहीं विहात।
सूर प्रभु संग ब्रज तरुणि मिलि, करत सुख न सिरात॥८७॥[१]

अर्थात् अपनी प्रेयसी के शरीर को विह्वल देख कर श्रीकृष्ण रीझ गए और उन्होंने उसका आलिगन कर लिया। कभी वे उसे अपनी गोद में उठा लेते, कभी वे दोनों परस्पर बातें करने लगते। वे दोनों प्रेमरस में भरे एक दूसरे से मिलते और अपनी आंखें लड़ा कर मुस्कराते। उनके रास-रस की कामना को पूर्ण करने वाली रात्रि का अंत नहीं होता। इत्यादि।

सूरदास के विरह-वर्णन के बहुत सुदर उदाहरण 'भ्रमर गीत' वाले प्रसग में मिलते हैं। श्रीकृष्ण ने अपने मित्र उद्धव को उनके ज्ञान गर्व का ह्रास कराने के लिए अपनी प्रेमिका गोपियों के निकट अपने संदेशों के साथ भेजा। उद्धव ने नंद और यशोदा को तो श्रीकृष्ण का संदेश दिया और गोपियों के समक्ष उन्होंने योग-साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति की ज्ञान-चर्चा छेड़ दी। प्रेमिका गोपियों को, जो श्रीकृष्ण के विरह से पीड़ित हो रही थीं,

---

१ **'सूरसागर' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृ० ६७९**

ये बातें बेतुकी जान पड़ीं इस कारण उन्होंने वहाँ पर उड़ते हुए किसी भ्रमर को संबोधित कर के उसी ब्याज से उद्धव के प्रति प्रेमालाप आरंभ कर दिया। उन्होंने उद्धव के वचनों के प्रति पूरी उपेक्षा का भाव प्रकट किया और अपने प्रेमी हृदय से निकले हुए विरहोद्गारों को ऐसे शब्दों में प्रकट किया जिनसे उद्धव स्वयं प्रभावित हो गए। सूरदास ने उन गोपियों के हृदय की, अपने प्रियतम के प्रति, तल्लीनता का भाव दर्शाते हुए उनसे कहलाया है--

मन में रह्यौ नाहिन ठौर।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये उर और।
चलत चितवत दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय में वह स्याम मूरति, छिन न इतउत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधो, लोक लाभ दिखाय।
कहा करों तन प्रेम पूरण, घटनि सिंधु समाय। इत्यादि[1]

तथा

ऊधों, मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल, विख कीरा विख खात।
जो चकोर को देउ कपूर कोउ, तजि अंगार न अघात। इत्यादि

अर्थात् हे ऊधो, हमारे हृदय में तो निर्गुण अथवा अन्य किसी के लिए अब कोई स्थान ही रिक्त नहीं है। वहाँ तो सदा नंद नन्दन श्रीकृष्ण ही जमे बैठे हैं। उनकी श्याम मूर्ति न तो दिन में चलते-फिरते समय हृदय से दूर होती है और न एक क्षण के लिए रात्रि के समय सोते वा स्वप्न देखते समय ही पृथक् जाती समझ पड़ती है। तुम तो हमारे लाभ की अनेक बातें हमारे सामने कह रहे हो, किंतु इस प्रेमरसपूर्ण शरीर में वह समुद्र कहाँ अँट सकता है? वे विरहिणी प्रेमिकाएं, इसी प्रकार, उन्हें यह भी बतला देती हैं कि उनका प्रेम पूर्णतः एकांत है। वह दूसरे के प्रति स्वभावतः, नहीं हो सकता।

---

[1] 'सूरसागर' (न० कि० प्रेस, लखनऊ), पृ० ८५३

जिस प्रकार विष का कीड़ा मधुर फल और मेवे का परित्याग कर के विष ही खाया करता है और जिस प्रकार चकोर पक्षी कपूर जैसे शीतल और सुगंधित पदार्थ को छोड़ कर अग्नि का अंगार खा लेता है उसी प्रकार हम लोग श्रीकृष्ण के प्रति निसर्गतः अनुरक्त हो चुकी हैं और हमारे लिए किसी भी अन्य वस्तु का अपनाना असंभव है।

सूरदास ने श्रीकृष्ण के बचपन का सुंदर चित्र खींच कर उस पर उनके माता-पिता के रीझने और स्नेह प्रकट करने का भी वर्णन किया है। ऐसी रचनाओं में माता के हृदय का स्वाभाविक चित्रण बहुत सफल हुआ है। शिशु श्रीकृष्ण को यशोदा पालने में झुलाती हुई कहती है—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ जोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगिहि आवै, तोकौ कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कैरहि, करि-करि सैन बतावै।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।[1] इत्यादि

अर्थात् यशोदा अपने शिशु श्रीकृष्ण को पालने में झुला रही है। वह उसे झुलाती है, लाड़-प्यार के साथ पुचकारती है और जो जी में आता है उसे गाने भी लगती है। वह गाती है कि अरी नींद, तू मेरे लाल के निकट आकर उसे क्यों नहीं सुला जाती, तू शीघ्र क्यों नहीं आती, वह तुझे बुला रहे हैं। ऐसे ही समय जब श्रीकृष्ण कभी अपनी आंखें मूंदते और कभी अपने होंठ फड़काने लगते हैं तो उन्हें सोया हुआ समझ कर वह चुप्पी साध लेती है और केवल संकेतों से बातचीत करती है और यदि वे घबड़ा कर

---

[1] **'सूरसागर' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ० ४३९**

उठ जाते हैं तो फिर एक बार मधुर स्वरों में गाने लगती है। इसी प्रकार फिर,

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरु वनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दांत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख वचन झरै।
कब नंदहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब अँचरा मेरो गहि मोहन, जोइ सोइ करि मोसौं झगरै।
कबधौं तनक तनक कछु खैहैं, अपने करसों मुखहि भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसौं, जा छवि तैं दुख दूरि हरै। इ०[1]

अर्थात् श्रीकृष्ण शिशु की माता यशोदा अनेक प्रकार के सुखद स्वप्न देख रही है और उसका मातृसुलभ हृदय उसके संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरथों को प्रश्रय दे रहा है।

सूरदास ने उपर्युक्त वात्सल्य भाव के अतिरिक्त भक्ति के अनुरूप आत्म-निवेदन और शरणागति आदि का भी वर्णन किया है। इष्टदेव श्रीकृष्ण के प्रति एकांत निष्ठा का भाव व्यक्त करते हुए वे एक स्थल पर कहते हैं कि मेरा मन अन्यत्र लग नहीं सकता। वह जहाज के उस पक्षी के समान है जिसे सिवाय उस एक आश्रय के अन्यत्र कोई भी आधार नहीं दीख पड़ता और वह विस्तृत महासागर के वक्षःस्थल पर चारों ओर से चक्कर काटता हुआ फिर वहीं आकर टिकता है; जैसे,

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसैं उड़ि जहाज कौ पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।[2]

वे, इसी प्रकार, अन्यत्र अपने को उस पक्षी के रूप में दिखलाते हैं

---

१ 'सूरसागर' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४५६
२ वही, पृ० ५५

जिसको लक्ष्य बनाकर कोई अहेरी अपना तीर साधे हुए है और दूसरी ओर, यदि वह किसी प्रकार वहाँ से उड़कर भी भाग जाना चाहे तो उसे उस बाज पक्षी का भय है जो उसके ऊपर मँडरा रहा है और जो इसी ताक में है कि उसे ऊपर उठते ही शीघ्र दबोच लूँ। वह पक्षी इसी दशा में विनय करता है—

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठो द्रुम डरिया, पारधि साधे बान।
ताकें डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयो आनि यह, कौन उबारै प्रान?[१]

सूरदास यहाँ पर अपने इष्टदेव के प्रति अटूट विश्वास प्रदर्शित करते हैं और उसके यहाँ अनन्यभाव से शरणापन्न होते हैं।

अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी रासलीला, भ्रमरगीत आदि के प्रसंगों के आधार पर रचनाएं की हैं और विनय पद भी कहे हैं। नन्ददास ने तो अपनी रचना 'रूपमंजरी' में एक प्रेम-कहानी का भी वर्णन किया है जिसमें लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम बन गया है। अष्टछाप के कवियों के ही समान राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हितहरिवंश (जन्म सं० १५५९) ने भी कृष्ण-काव्य की रचना की है। ये, वास्तव में, राधा एवं कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे और इनका विशेष ध्यान राधा को महत्त्व देने की ओर ही रहता था। इनकी धारणा थी कि इस युगल मूर्ति की अलौकिक प्रेम क्रीड़ा को प्रत्यक्ष करना और उसका वर्णन करना अपना ध्येय होना चाहिए। श्रीकृष्ण एवं राधा को एक दूसरे के प्रति एक समान प्रेमानुरक्त होनेवाला इन्होंने दर्शाया है और दोनों को जल तरंगवत् अभिन्न भी कहा है—

---

[१] **'सूरसागर' (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ३१**

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
× × ×
श्री हितहरिवंश हंस हंसिनी सांवल गौर।
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥१॥[१]

हितहरिवंश ने उस युगल मूर्ति की केलि का वर्णन करते समय न केवल उसका विवरण दिया है, अपितु काव्य-कौशल भी दिखलाया है। उनके पद बड़े ही सुन्दर हैं और उनमें शब्द लालित्य के कारण संगीत का भी संयोग हो गया है। उनकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

आज निकुंज मंजु में खेलत, नवल किशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर, सुनि अभूत भूतल पर जोरी ॥[२] **इत्यादि**

आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोर,
कहा कहौ अंग अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड गंड,
परस सरस रास लास मंडली जुरी।[३] **इत्यादि**

तथा,

आज वन क्रीडत स्यामा स्याम।
सुभग बनी निशि शरद चाँदनी रुचिर कुंज अभिराम ॥२॥[४]

हरिवंश इन पंक्तियों के अनन्तर, युगल मूर्ति के 'रंगविलास' की विविध चेष्टाओं का ऐसा चित्रण करते हैं जैसे वे उन्हें प्रत्यक्ष देख रहे हैं और उनमें

---

१ **'हित चौरासी सेवक वाणी' (मथुरा), पृ० १**
२ **वही, पृ० ४**
३ **वही, पृ० ७**
४ **वही, पृ० २५**

मे किसी एक का भी वर्णन न करना उनके लिए असह्य हो सकता है।

इस कवि ने राधा के मान और श्रीकृष्ण के विरह का वर्णन भी बड़ी निपुणता के साथ किया है। वृंदावन के कुंजों में श्रीकृष्ण राधा के विरह में दुखी हैं और कोई दूती उनके यहाँ तक राधा को ले चलने का प्रयास करती है। राधा मान किये बैठी है और वह साधारण प्रकार से कहे जाने पर कृष्ण से मिलने को उत्सुक नहीं हो सकती। कवि ने इसीलिए कहलाया है—

चलहि किन माननि कुंज कुटीर।
तो विनु कुंवरि कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर।
गद गद सुर विरहाकुल पुलकित, श्रवत विलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभान नंदनी, विलपत विपिन अधीर।
वंशी विसिख व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर।[1] **इत्यादि**

अर्थात् हे मानिनी राधे, तुम निकुंजों में क्यों नहीं चलतीं ? हे कुमारी, करोड़ों स्त्रियों के रहते हुए भी तुम्हारे बिना श्रीकृष्ण को कामदेव की पीड़ा सता रही है। उनका स्वर गद्गद् हो रहा है, विरह की बेचैनी में उन्हें रोमांच हो आए हैं और उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। वे अधीर होकर उस वन में 'राधे कहाँ हो', 'राधे कहाँ हो' कह कर विलाप करते हैं। उनके लिए इस समय उनकी प्रिय मुरली बाण के समान हो गई है, उनके वक्षःस्थल पर पड़ी मालाएं उन्हें सर्पवत् प्रतीत होती हैं और कोयल तथा तोते जैसे पक्षी तक उन्हें सिंह जैसे भयावने जान पड़ते हैं, इत्यादि—

हितहरिवंश ने, इसी प्रकार, प्रेम का विषय लेकर भी कुछ पदों की रचना की है। उनका कहना है कि प्रीति के रहस्य के वास्तविक जानकार स्वयं श्रीकृष्ण हैं जो, लोकोत्तर महापुरुष होते हुए भी, उसके कारण अपने को दैन्यावस्था में डाल देते हैं—

---

[1] **'हित चौरासी सेवक वाणी' (मथुरा), पृ० २९-३०**

प्रीति की रीति रंगीलोई जानै।
जद्यपि सकल लोक चूडामणि, दीन अपनपौ मानै ॥१॥
जमुना पुलिन निकुंज भवन में, मान मानिनी ठानै।
निकट नवीन कोटि कामिनी कुल. धीरज मनहिं न आनै ॥२॥[1]

सच्ची प्रीति किसी प्रकार की बाधाओं के कारण विरत भी नहीं होती और न उसे कोई किसी भाँति रोक ही सकता है। हितहरिवंश कहते हैं,

प्रीति न काहु की कानि विचारै।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै ॥१॥
ज्यौं सरिता सावन जल उमगत, सन मुखसिंधु सिधारै।
ज्यौं नादहि मन दिये कुरंगनि, प्रगट पारधी मारै ॥२॥[2]

परंतु हितहरिवंश के अनुसार, यह दशा तभी आ पाती है जब प्रेमी का मन एकांत-निष्ठ रहा करता है और वह इधर उधर नही जाता—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि,
कहि कौने सचु पायौ।
जहां तहां विपति जार जुवती लौं,
प्रगट पिंगला गायौ ॥१॥
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हटि,
परत कौन पै धायो। इत्यादि[3]

अर्थात् इस मन को कई ओर उलझा देने पर किसी को भी कभी सुख न मिला। यह बात उस पिंगला वेश्या की कथा से भी स्पष्ट है जिसे अनेक सुन्दर और धनी नवयुवकों से प्रेम करने पर भी वास्तविक आनंद तभी मिला था जब वह कृष्णानुरक्त हो गई थी। कौन सा ऐसा सवार है जो दो घोड़ों पर बैठकर उन्हें अपने बल से एक ओर दौड़ा सकता है ?

---

[1] 'हित चौरासी सेवक वाणी' (मथुरा), पृ० ३२
[2] वही, पृ० ३३
[3] वही, पृ० ४६

अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्णावतार की विविध लीलाओं की चर्चा करते हुए भी मधुरभाव के ही वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया और इसके लिए कृष्ण की प्रेमिका राधा के साथ-साथ गोपियों के प्रसंगों का भी उपयोग किया। हितहरिवंश ने इस संबंध में राधा को अधिक महत्त्व दिया और उसके साथ श्रीकृष्ण के नित्य विहार की कल्पना कर अपने को उसका दर्शक होना माना। परंतु हरिवंश की ही समकालीन मीरांबाई (जन्म संभवतः सं० १५५५) के लिए श्रीकृष्ण स्वयं अपने पति से अभिन्न हो गए। मीरांबाई मेडता के राजघराने की संतान थीं और उनका विवाह प्रसिद्ध सिसोदिया वंश के महाराणा के घर हुआ था। किंतु उनकी लगन उस अलौकिक प्रेमास्पद श्रीकृष्ण के ही प्रति एकनिष्ठ बन गई और उन्होंने इसे अंत तक निभाने की चेष्टा की। मीरांबाई ने भी कृष्ण-काव्य की परंपरा के अनुसार केवल फुटकर पदों की रचना की ही ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में भी कतिपय पदों की रचना की। फिर भी उनकी विशेषता उन प्रेमोद्गारों में ही लक्षित होती है जिन्हें उन्होंने अपने को श्रीकृष्ण की प्रेमिका मानकर उनके प्रति व्यक्त किये और जिनमें उन्होंने अपनी स्वानुभूति प्रदर्शित की। मीरांबाई के पदों में, इस प्रकार, उस पूर्वराग की व्यजना है जो स्वयं उन्हेंही अपने प्रियतम 'गिरधर नागर' के लिए होता है, उस दृढ़व्रत की चर्चा है जिसे वे उसे अपनाने अथवा उसके साथ निरंतर बनी रहने के लिए स्वीकार करती हैं और उस आत्म-समर्पण के भाव का भी समावेश है जो, उनके गंभीर प्रेम के कारण, उनके हृदय में स्वभावतः जागृत हो जाता है। मीरांबाई ने अपने प्रियतम के प्रति विरह-निवेदन भी किया है ओर उन्होंने उसे संबोधित करके कुछ ऐसे भी पद लिखे हैं जिनमें उनके उपालंभ तथा मानभाव तक के कुछ उदाहरण स्पष्ट लक्षित होते हैं। किंतु फिर भी उनका हृदय एक परम श्रद्धालु भक्त का ही हृदय प्रतीत होता है जिसमें, उनके स्त्री होने के कारण, रागानुगाभक्ति के माधुर्य-भाव अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गए हैं।

मीरांबाई अपने गिरधर के सौंदर्य का वर्णन इस प्रकार करती हैं जैसे वे उन्हें प्रत्यक्ष देखती हुई कर रही हों। उनकी प्रेमासक्ति अत्यंत गहरी है और वे अपने प्रियतम के रूपगत लावण्य के साथ उसके चेष्टागत सौन्दर्य का भी परिचय देती है। वे अपने एक पद में इस प्रकार कहती हैं—

या मोहन के मैं रूप लुभानी ॥टेक॥
सुन्दर वदन कमल दल लोचन,
बांकी चितवन मंद मुसकानी।
जमना के नीरे तीरे धेन चरावै,
बंसी में गावै मीठी बानी।[1] इत्यादि

वे अपने नेत्रों के लिए कहती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आइ ॥टेक॥
रूंम रूंम नख सिख सब निरखत,
ललकि रहे ललचाइ।
× × ×
लोक कुटंबी गरजि बरजहीं,
बतियां कहत बनाइ।
चंचल निपट अटक नहिं मानत,
परहथ गये बिकाइ॥ इत्यादि[2]

वे अपने प्रियतम के प्रति अनेक प्रकार के विरहोद्गार प्रकट करती है और अपनी बेचैनी की दशा एक सच्ची विरहिणी के रूप में ही व्यक्त करती है। वे उसके लिए संदेश भेजने का वर्णन करती है और उसके लिए प्रतीक्षा तक करती हुई प्रतीत होती हैं। अंत में वे इस प्रकार के भी पदों की रचना करती हैं जिनमें उनके प्रत्यक्ष आगमन और मिलन का चित्रण रहा करता

---

[1] **'मीरांबाई की पदावली' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ३-४, पद ८**
[2] **वही, ० ४, पद १०**

है। वे कहती है—

म्हाँरा ओलगिया घर आया जी ॥टेक॥
तन की ताप मिटी सुख पाया,
हिलमिल मंगल गाया जी ॥ इत्यादि[1]

तथा मैं तो राजी भई मेरे मन में,
मोहि पिया मिले इक छिन में ॥टेक॥
पिया मिल्या मोहि किरपा कीन्ही,
दीदार दिखाया हरि ने ॥ इत्यादि[2]

मीराबाई अपने प्रियतम गिरधर गोपाल को अपना पति और सभी कुछ मानती है, किन्तु वे उन्हे अलौकिक रूप मे ही देखती है। उनके कुछ पद ऐसे भी मिलते है जिनमे उस 'हरि' के प्रति उनकी निर्गुणोपासना के भाव व्यक्त किये गये है। उन्होने कुछ ऐसी पक्तियाँ लिखी है जिनमे वे उन्हे 'अगम' और 'अतीत' बतलाती है और उन्हे 'त्रिकुटी महल' के 'झरोखे' से देखना तथा 'सुन्न महल' मे 'सुरत' जमाकर उसके साथ मिलना चाहती है और उनका मन 'सुरत' की 'असमानी सैल' मे रमा रहना भी पसद करता है। किन्तु उनकी साधना के लक्ष्य 'गिरधर नागर' सभवत वे ही श्रीकृष्ण है जो एक अवतारी महापुरुष है और जो सूरदास आदि के भी इष्टदेव है। मीराबाई ने उनके विषय मे काव्य-रचना करते समय माधुर्यभाव की अभिव्यक्ति किन्ही गोपियो के माध्यम से नही की है, अपितु उन्होने स्वय अपने को उनकी पत्नी के रूप मे मान लिया है और इस प्रकार, उनके ऐसे उद्गारो मे अधिक स्वाभाविकता भी आ गई है। माधुर्यभाव की अभिव्यक्ति हमे सतो की रचनाओ में भी बिना किसी माध्यम के ही दीख पडती है और, उनके अद्वैतभाव के कारण उनकी पक्तियो मे कुछ विशेष तीव्रत

---

[1] 'मीराबाई की पदावली' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ५२, पद १४९

[2] वही, पृ० ५२, पद १५०

भी जान पड़ती है। परन्तु फिर भी उनमें हमें उनके शब्द उतने उपयुक्त और यथोचित नहीं जान पड़ते जितने मीरांबाई की स्त्रीजन-सुलभ उक्तियों में दिखलाई देते हैं।

मीरांबाई के अनन्तर, किन्तु भक्तिकाल के ही अन्तर्गत, श्रीकृष्ण के एक मुस्लिम भक्त ने भी प्रेमलक्षणाभक्ति का सुन्दर परिचय दिया है और उसे अधिकतर व्यक्तिगत उद्‌गारों द्वारा ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उस भक्त का नाम 'रसखान' मिलता है और उनकी रचनाओं के संग्रह 'सुजान रसखान' एवं 'प्रेमवाटिका' नामसे प्रसिद्ध हैं। रसखान अपनी युवावस्था से ही एक प्रेमी जीव रह चुके थे और उनके गंभीर प्रेम की धारा का बहाव लौकिक की ओर से अलौकिक के प्रति मुड़ा था। उनमें भीह में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की ही पिपासा काम करती हुई जान पड़ती है किन्तु उनका अनुराग सखाभाव का है। वे श्रीकृष्ण के एकांतनिष्ठ भक्त हैं और उनकी अभिलाषा है कि मैं जिस किसी भी अवस्था में और जहाँ कहीं भी रहूँ उन्हीं के निकट रहूँ। मुस्लिम होते हुए भी वे जन्मान्तर में विश्वास करते हैं और अपने मनोरथों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं व्रज गोकुल ग्वाल के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥१॥[1]

वे श्रीकृष्ण के गोचारण के समय काम आनेवाली छोटी सी 'लकुटिया' और काली 'कामरिया' पर त्रैलोक्य न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं और नन्द की गौवों की चरभूमि ब्रज के करील कुंजों पर करोड़ों स्वर्ण-मन्दिर वार देते हैं। उनके सौन्दर्य पर अनुरक्त उनकी आँखों की यह दशा है,

---

१ **'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन पुस्तकमाला), पृ० १७**

उनही के सनेहन सानी रहें, उनही के जुनेह दिवानी रहें।
उनही की सुनैन औ बैन त्यों सैन सो चैन अनेकन ठानी रहें।
उनहीं संग डोलन में रसखानि, सबै सुख सिंधु समानी रहें।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी, आंखी मेरी अँसुवानी रहें ॥३१॥[1]

इसी प्रकार वे श्रीकृष्ण प्रेम का परिचय गोपियों से भी दिलाते हैं। उदाहरण के लिए किसी गोपी के प्रथम दृष्टिपात की कथा, उसीके द्वारा वे यों कहलाते हैं—

जा दिनतें निरख्यो नंद नंदन कानि तजी घर बंधन छूट्यौ।
चारु विलोकनि की निसि मार, सम्हार गई मन मारने लूट्यौ।
सागर कों सरिता जिमि धावति, रोकि रहे कुल को पुल टूट्यौ।
मत्त भयो मन संग फिरै रसखानि सरूप सुधा रस घूट्यौ ॥२४॥[2]

तथा उसके एकांतिक अनुराग का वर्णन इस प्रकार कराते हैं—

प्रान वही जु रहें रिझि वापर, रूप वही जिहि वाहि रिझायो।
सीस वही जिन वे परसे पद, अंक वही जिन वा परसायो॥
दूध वही जु दुहायो री वाही, दही सु सही जु वही ढरकायो।
और कहां लौं कहौं रसखानि री, भाव वही जु वही मन भायो ॥१०२॥[3]

रसखान की 'प्रेम वाटिका' उनके प्रेम-संबंधी सिद्धांतों का वर्णन करती है। इसके अनुसार रसखान प्रेम को श्रुति, पुरान, आगम, स्मृति, आदि सभी धर्मग्रन्थों का 'सार' समझते हैं और उसे विषयानन्द एवं ब्रह्मानन्द इन दोनों का ही मूलस्रोत ठहराते हैं। उनका कहना है कि प्रेम के जाने बिना कुछ भी जाना नहीं जा सकता और उसके जान लेने पर फिर कुछ जानना

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन पुस्तकमाला) पृ० २३**
[2] **वही, पृ० २१**
[3] **वही, पृ० ३७**

शेष भी नही रह जाता। इस प्रेम का शुद्ध रूप ऐसा है कि इसे प्राप्त कर लेने पर बैकुंठ क्या उसके निवासी हरि की भी अभिलाषा नही रह जाती। रसखान उसका परिचय देते हुए कहते हैं—

बिनु गुन जोवन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामनाते रहित, प्रेम सकल रसखानि ।।१५।।[1]
इक अंगी बिनु कारनहि, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ।।२१।।[2]

अर्थात् वही प्रेम सभी रसो का आकर हुआ करता है जो बिना किसी गुण, यौवन, रूप वा धन जन्य स्वार्थ से रहित हो। प्रेम का वास्तविक रूप उसके एकांतिक, अकारण और एकरस होने और प्रेमी द्वारा प्रेमास्पद को अपना सर्वस्व मानने में दीख पड़ता है। प्रेम को उन्होने अमित, अगम्य एवं अनुपम सागर के समान बतलाया है जहाँ तक आकर फिर कभी कोई वहाँ से वापस नही जाया करता। इसे बहुत से लोग नेजा, भाला, तीर वा तलवार कहा करते हैं, किन्तु रसखान का कहना है कि इस शस्त्र की चोट सदा मीठी हुआ करती है और रोम-रोम में व्याप्त हो जाती है जिससे मरता हुआ जी जाता है और झुकता हुआ निश्चल बन जाता है। इसकी कहानी वास्तव में, अकथनीय है जिसे विरले ही जान पाते हैं।

रसखान के अनुसार प्रेम रूपदर्शन, गुण श्रवण अथवा कीर्तन द्वारा उत्पन्न होता है और उसके 'शुद्ध' एव 'अशुद्ध' नामक दो भेद हैं। अशुद्ध प्रेम उसे कहते हैं जो स्वार्थमूलक हुआ करता है और शुद्ध प्रेम वह है जो स्वभावत. जागृत हो जाता है। शुद्ध प्रेम निःस्वार्थ एवं स्वाभाविक होने के ही कारण सदा एकरस, अचल और महान् भी हुआ करता है। प्रेम का जो मूल कारण होता है उसे उसका 'बीज' कहते हैं और जिस किसी में वह उत्पन्न होता है

---

[1] **'रसखान और घनानन्द' पृ० १२**
[2] **वही, पृ० १३**

उसे प्रेम का क्षेत्र कहा जाता है। फिर भी, यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो, जान पड़ेगा कि, वास्तव में, स्वयं प्रेम ही अपना कारण और कार्य है और स्वयं उसी के द्वारा उसका अंकुर पनपता, बढ़ता, फूलता और फलता है। प्रेम ही अपना बीज है, वही अपना अंकुर है, वही अपना सिंचाव है और वही अपना आलवाल भी है। डाल, पात, फूल और फल सब कुछ वही है—

जो, जातें, जामें बहुरि, जाहित कहियत वेस।
सो सब प्रेमहि प्रेम है, जग रसखान असेस ॥४६॥[1]

इसी कारण प्रेम को मुक्ति से भी अधिक महान् की पदवी दी जाती है और इसके सामने सभी सांसारिक विधि-निषेध बेकाम पड़ जाते हैं। प्रेम का प्याला पी चुकनेवाला किसी प्रकार की बाधाओं की परवा नहीं करता और इसके ऊपर अपने प्राणों तक को खेल जाता है। रसखान ने सच्चे प्रेमियों के उदाहरण में लैली का नाम लिया है, गोपियों की सराहना की है और श्रीकृष्ण सखा उद्धव का भी उल्लेख किया है।

कृष्ण-काव्य-परंपरा के एक अन्य कवि नरोत्तमदास (सं० १६०२ में वर्त्तमान) ने इसी काल में, अपने 'सुदामा चरित' द्वारा श्रीकृष्ण के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया और उसके आधार पर प्रेम के सौहार्द भाव की एक सुन्दर झलक दिखलाई। श्रीकृष्ण का द्वारकाधीश होते हुए भी अपने दरिद्र बालसखा सुदामा से प्रेमपूर्वक मिलना, उनका आदर-सत्कार करना तथा उनकी बिदाई भी उसी भाव से करना इसके उल्लेखनीय स्थल हैं। सुदामा बहुत निर्धन थे और अपनी शारीरिक दुरवस्था के कारण उनकी दशा हीन एवं दयनीय हो रही थी, किन्तु श्रीकृष्ण के यहाँ—

बोल्यौ द्वारपालक 'सुदामा नाम पांडे' सुनि,
छांडे राजकाज ऐसे जीकी गति जानै को?

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन पुस्तकमाला), पृ० १५

द्वारिका क नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय कर ऐसे दुख सानै को?
नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि,[१] इत्यादि

के द्वारा स्वागत हुआ और उन्होंने उनके चरण भी इस प्रकार धोये—

ऐसे बेहाल बेवाइन सों भये, कंटक जाल लगे पग जोए।
हाय! महादुख पायौ सखा! तुम आए इतै न कितै दिन खोए।।
देखि सुदामा की दीन दशा, करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जलसों पग धोए।।४७।।[२]

फिर अपने राज मन्दिर में उन्हें एक सप्ताह तक ठहरा कर उनका ऐसा आतिथ्य सत्कार किया कि वहाँ से जाते समय सुदामा इस प्रकार सोचने गये—

वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति।
वह पठवनि गोपालकी, कछू न जानी जाति।।८०।।[३]

नरोत्तमदास ने अपनी रचना भक्तिकालीन वातावरण में की थी। अतएव, श्रीकृष्ण के चरित्र मे उन्होंने कुछ अलौकिकता का भी समावेश कर दिया है।

कृष्ण-काव्य-परंपरा के अतिरिक्त राम-काव्य-परंपरा के भी कतिपय कवियों ने इस काल में प्रेम-संबंधी कविताएँ की थीं। इन रामभक्तों की भक्ति अधिकतर केवल दास्यभाव के आधार पर प्रदर्शित की गई दीख पड़ती है जिस कारण इनकी रचनाओं में प्रेम विषयक प्रसंगों की उतनी प्रचुरता नहीं पायी जाती, जितनी कृष्ण-काव्य में है। इन भक्तों के इष्टदेव श्री

---

१ 'सुदामा चरित' (हिन्दी मन्दिर, प्रयाग), पृ० १९

२ वही, पृ०२०

३ वही, पृ० २५

रामचन्द्र भी मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते ह जिन्हे ललित लीलाओ की अपेक्षा लोक-सग्रह सबधी कार्य करने की आवश्यकता अधिक पडती है। अतएव उनके भक्तो का ध्यान जितना उनके शील एव शौर्य की ओर जाता है उतना उनके सौदर्य एव हास-विलास की ओर उन्मुख नही होता जिस कारण ये विशेषकर उनकी दया और दाक्षिण्य तथा प्रभत्व का ही वर्णन करने लग जाते ह। फिर भी इस काल के राम-काव्य की रचना करनेवाले सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास (मृ० स० १६८०) की बहुमुखी प्रतिभा के कारण इस परम्परा मे भी हमे प्रेम-सबधी सुन्दर पक्तियो का अभाव नही दीखता। गो० तुलसीदास ने श्रीरामचन्द्र के चरित का विषय लेकर उसके आधार पर 'रामचरितमानस की रचना की है जिसमे उन्होने प्रसगवश उस चरितनायक के बाल्यकाल एव किशोरावस्था का वर्णन करते समय उनके कुछ मानवीय गुणो की भी चर्चा की है। उस रचना मे उन्होने उनकी पितृ-भक्ति, भ्रातृप्रेम सखाभाव तथा प्रजा-प्रेमादि का चित्रण बडे सुन्दर ढग से किया है। उन्हे इस कवि ने ऐसे अपूर्व सुन्दरता के साथ भी युक्त कर दिया है कि उन्हे देखते ही उनके प्रति साधारण नर-नारी से लेकर राक्षस तथा जलचर जीव तक आकृष्ट हो जाते हैं।

गो० तुलसीदास ने अपने इष्टदेव श्री रामचन्द्र को परम ब्रह्म परमात्मा स अभिन्न माना है और उनका अवतार के रूप मे प्रकट होना तथा एक आदर्श महापुरुष की भाँति विविध लीलाओ का करना इस प्रकार उनकी महती कृपा के ही कारण सभव ठहराया है। परमात्मा सर्वव्यापी है किन्तु वह सबके प्रत्यक्ष नही होता, उसके प्रकट होने के लिए इस कवि के अनुसार भक्तो का प्रेम ही परमावश्यक होता है। उदाहरण के लिए, एक स्थल पर श्री शिव द्वारा कहलाया गया है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमते प्रगट होहि मैं जाना॥

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं।।
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेमतें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।[१]

गो० तुलसीदास ने फिर श्रीरामचन्द्र का जन्म हो जाने पर, उनके पिता राजा दशरथ को भी इस प्रेम द्वारा ही प्रभावित दिखलाया है और उनके 'प्रेम' का परिचय इस प्रकार दिया है जिससे जान पड़ता है कि वह स्वयं 'ब्रह्मानन्द' का परिणाम है, जैसे,

दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहु ब्रह्मानंद समाना।।
परम प्रेममय पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा।।[२]

उस रामजन्म के अवसर पर सभी प्रसन्न दीख पड़ते है और उस अपूर्व शिशु को देखना भी चाहते है। ऐसे व्यक्तियों में ही गो० तुलसीदास ने काकभुसुण्डी और श्री शिव की चर्चा की है और श्री शिव द्वारा एक बार फिर कहलाया है—

काक भुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।।
परमानंद प्रेमसुख भूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।।[३]

इसी प्रकार इस रामजन्म के कारण राम की माता कौशल्या का भी गो० तुलसीदास ने 'प्रेममगन' होना ही बतलाया है। वे कहते हैं—

प्रेम मगन कौसल्या, निसिदिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता, बाल चरित कर गान।।[४]

इसके अनन्तर गो० तुलसीदास ने ऐसे कई अन्य प्रसंग भी दिये है जिनमें उन्होंने प्रेम विषयक प्रभाव की चर्चा की है। श्रीरामचन्द्र की किशोरा-

---

[१] **'रामचरितमानस' (बालकांड, दोहा १८५)**
[२] **वही, (बालकांड, दोहा १९३)**
[३] **वही, दो० १९६**
[४] **वही, दो० २००**

वस्था के समय उनके प्रति प्रेमानुरक्त होनेवाले व्यक्तियो मे उन्होने राजर्षि जनक तक को गिनाया है। श्रीराम एव लक्ष्मण को देखकर राजर्षि जनक कह उठते है—

सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

× × ×

इन्हहि विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।[1]

श्रीरामचन्द्र को उस समय देखकर जनकपुर के नर-नारी एव बालक-वृन्द तक 'प्रेमवस' हो जाते है। सीता जी उन्हे वस्तुत 'निजनिधि' के रूप मे पहचान लेती है और उनके प्रति स्नेहाधिक्य के कारण आनन्दविभोर हो जाती है। धनुष-भग के अनन्तर जब वह उन्हे जयमाल पहनाने जाती है तो उनकी दशा चित्रवत् हो जाती है और वह, सखियो के सकेत करने पर भी, प्रेम-विवशता के कारण उन्हे उसे पहना नही पाती। जैसे,

जाइ समीप राम छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम विवस पहिराइ न जाई॥[2]

इस सीता के प्रेमाधिक्य की ओर सकेत करते हुए गो० तुलसीदास ने एक स्थल पर अन्यत्र कोहबर के प्रसग मे भी कहा है—

निज पानि मनि महुँ देखि अति, मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजवल्ली विलोकनि, विरहभय बस जानकी॥[3]

---

[1] **'रामचरितमानस' (बालकांड, दो० २१६)**

[2] **वही, दो० २६४**

[3] **वही, दो० ३२७**

अर्थात् अपनी बाँह में पहने गये आभूषण में जटित मणि मे प्रतिबिम्बित श्रीराम के सौन्दर्य से वह इस प्रकार प्रभावित है कि वह उसे इधर-उधर हटाकर उनकी उस मूर्ति के विरह मे नही पड़ना चाहती।

श्रीरामचन्द्र के प्रति उनके सभी भाई भी उसी प्रकार अनुरक्त है और उनके लिए सब कुछ त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं। उनके वन-गमन के अवसर पर लक्ष्मण समाचार के सुनते ही व्याकुल हो उठते हैं और 'प्रेम अधीरा' होकर उनके चरणों पर गिर पडते है। उनके संबंध में गो० तुलसीदास कहते है कि वे भावी वियोग की आशंका से स्तब्धवत् बन जाते है। उनकी दशा का चित्रण करते समय वे कहते है—

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जलते काढ़े।[1]

इसी प्रकार भरत भी उनके प्रेम में इतने लीन है कि वे त्रिवेणी के तट पर उनके चरणों में प्रीति के लिए प्रयाग से याचना करते है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउ निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदानु न आन॥२०४॥[2]

इन दोनों भाइयों के प्रति स्वयं राम के प्रेम की भी चर्चा गो० तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर की है। भरत के द्वारा उनके प्रेमभाव का वर्णन कराते समय बतलाया गया है कि बचपन की दशा में भी वे इनके मन के विरुद्ध कुछ नही करते थे। भरत को किसी खेल मे हारते समय भी वे जिता देते थे जिस कारण ये सकोचवश उनके समक्ष एक शब्द भी नही कह पाते थे।

श्रीराम के भक्तो मे से सुतीक्ष्ण की प्रेम लक्षणा भक्ति का भी परिचय

---

[1] **'रामचरित मानस' (अयोध्या कांड, दो० ७०)**

[2] **वही, (दो० २०४)**

गो० तुलसीदास ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है। उनकी दशा का वर्णन करते हुए वे बतलाते हैं —

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेऊँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करहिं गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखें तरु ओट लुकाई॥४॥[1]

वास्तव में गो० तुलसीदास ने, दास्यभाव का समर्थक होते हुए भी प्रेम को भक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक बतलाया है। भक्ति की उत्पत्ति के संबंध में भी वे एक स्थल पर बतलाते हैं—

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जल की चिकनाई॥[2]

वे, इसीलिए, अपने विषय में भी कहते हैं—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु, रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद, बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥२॥[3]

उन्होंने, इसी प्रकार, काकभुशुण्डि द्वारा गरुड के प्रति कहलवाया है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।[4]

और अपने इष्टदेव के प्रति 'रामचरितमानस' के अंत में कहा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०॥[5]

---

[1] वही, (अरण्य कांड, दो० १०)

[2] 'रामचरितमानस' (उत्तर कांड, दो० ८९)

[3] 'विनय पत्रिका'

[4] 'रामचरितमानस'

[5] वही, (उत्तर कांड, दो० १३०)

गो० तुलसीदास की रचनाओं में शुद्ध प्रेम का बहुत बडा महत्त्व है। उनकी श्रृंगारिक पंक्तियों तक में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। वासनात्मक प्रेम का जहाँ उन्होंने कोई प्रसंग छेड़ा है वहाँ पर उसके दुष्परिणाम को भी उन्होंने दिखला दिया है। रावण की बहन शूर्पणखा राम एवं लक्ष्मण का सौंदर्य देखकर काम-वासना से पीडित होती है और उसका अंग भंग हो जाता है। स्वयं रावण भी "तिन्ह के संग नारि एक स्यामा" सुनकर उसके लोभ में बैर ठानता है और अन्त में सपरिवार नष्ट हो जाता है। किन्तु कृष्ण-काव्य-परंपरा के कवि प्रेमभाव का वर्णन उतनी शुद्धता के साथ नही कर सकते है। उन्होंने अपने लीला पुरुषोत्तम इष्टदेव की किसी भी ललित लीला को एक समान ही महत्त्व दिया है और उसके हास-विलासादि के प्रसंग में कभी-कभी उसकी सभोग क्रीड़ा तक का वर्णन कर दिया है जो, अलौकिक प्रेम की दृष्टि से, अनौचित्य की कोटि तक चला जाता है। गो० तुलसीदास ने, इसके विपरीत, बडे संयम और मर्यादा से काम लिया है और विरहिणी सीता के प्रति भी अपने इष्टदेव श्री रामचन्द्र द्वारा भेजे गए संदेश के अन्त में केवल यही कहलाया है--

'तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।।
सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।'[1]

गो० तुलसीदास ऐसे स्थलों पर, काम-वासना को भी उसके शुद्ध और स्वाभाविक रूप में ही महत्त्व देते हैं तथा उसकी तीव्रता को अपनी भक्ति तक के लिए आदर्श मानते है।

---

[1] **'रामचरितमानस'** (सुंदर कांड, दो० १५)

६. मध्यकालीन रीति-काव्य और स्वच्छन्द प्रेम-काव्य

हिन्दी-काव्य के इतिहास का भक्ति-काल अलौकिक प्रेम वाली रचनाओं के निर्माण के लिए स्वर्ण युग था। न केवल हिन्दी में ही अपितु बंगला, गुजराती, उड़िया, मराठी तथा तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं तक में, उस काल के अन्तर्गत, हिन्दुओं के 'रामायण', 'महाभारत' और 'श्रीमद्भागवत' जैसे धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर, काव्य-रचना हो रही थी और भिन्न-भिन्न आचार्यों तथा उनके अनुयायियों के भक्तिविषयक उपदेशों का प्रचार हो रहा था। वह समय सूफ़ी-प्रेमगाथा की रचनाओं के कारण भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है क्योंकि उस काल में न केवल शेख क़ुतबन, जायसी तथा मंझन ने ही अपनी-अपनी कहानियाँ लिखीं, अपितु उसी समय उसमान कवि ने अपनी 'चित्रावली' (सं० १६७०) की रचना की तथा जान कवि ने अपनी 'कनकावति' (सं० १६७५), 'कामलता' (सं० १६७८), 'मधुकरमालति' (सं० १६९१), 'रतनावति' (सं० १६९१) और छीता (सं० १६९३) जैसी कई प्रेम कहानियाँ लिख डाली और इस प्रकार, हिन्दी के प्रेम-काव्य साहित्य को बहुत समृद्धशाली बना दिया। इस जान कवि की सभी प्रेमकहानियाँ सूफ़ी-परंपरा के ही अनुसार नहीं लिखी गई थीं। उनमें कुछ ऐसी भी थीं जिनपर भारतीय पद्धति का पूरा रंग चढ़ा था और जो पूर्व प्रचलित आख्यानों और लोकगीतों से भी समानता रखती थीं। प्रेम-काव्य साहित्य के इस निर्माण-कार्य में हिन्दी के संत कवियों ने भी अपने ढंग से सहयोग प्रदान किया था। हिन्दी के भक्त, सूफ़ी एवं संत कवियों ने, इस प्रकार, मिलकर अलौकिक प्रेम की ऐसी सरिता बहाई थी जिसके सामने शृंगारी कवियों का लौकिक प्रेम बहुत कुछ मंद पड़ गया था।

परन्तु विक्रमकी १७ वीं शताब्दी का अन्त होने से कुछ पहले से ही हिन्दी-काव्य के इतिहास का रीतिकाल अपनी छाया डालने लगा था। कृपाराम, बलभद्र मिश्र एवं केशवदास जैसे कवि शृंगाररस की कविताएं, साहित्यिक पद्धति के अनुसार करने लगे थे और उन रचनाओं की नियमानुकूलता सिद्ध करने के लिए विविध लक्षणों का निर्देश भी करते जा रहे थे। शृंगारी कवियों की यह प्रवृत्ति विक्रम की १८ वीं तथा १९ वी शताब्दी की रचनाओ में विशेष रूप से लक्षित होती है और इसीसे इस काल को रीतिकाल कहते है। इस काल के जिन कवियों ने रीति ग्रन्थों के निर्माण अथवा उनके अनुसरण की ओर विशेष ध्यान दिया वे प्रेम के विषय को केवल प्रसगवश ही अपना सके और उनकी रचनाओं की अधिक चर्चा करना उपयुक्त नही कहला सकता। परन्तु जिन कवियों ने इसे पूर्ण महत्त्व देकर इस ओर अपनी व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित की उनकी रचनाएँ विशेषत: उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिए पहले वर्ग के प्रधान कवियों में बिहारीलाल (ज० स० १६६०), मतिराम (ज० सं० १६७८), देव (ज० स० १७३०) और पद्माकर (ज० सं० १८१०) के नाम लिये जा सकते है और इसी प्रकार, दूसरे वर्ग वालो मे घन आनंद (मृ० स० १८१८), हरनारायण (क० का० १८१८), बोधा (मृ० सं० संभवत: १८२५) तथा ठाकुर (मृ० स० लगभग १८८०) गिने जा सकते है। इनमे से प्रथम वर्गवालो ने प्रेम के विषय को लेकर कोई प्रबन्ध काव्य नही लिखा है, किन्तु दूसरे वर्गवालों मे से हरनारायण और बोधा की ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध है।

बिहारीलाल की एकमात्र रचना 'बिहारी-सतसई' मिलती है जिसकी शृगाररस प्रधान कविताओं को बहुत महत्त्व दिया गया है। ये कविताएँ दोहा छन्द में लिखी गई हैं और इनमें केवल थोडे से ही शब्दों द्वारा बडी मार्मिक एवं अनूठी उक्तियों का समावेश किया गया है। बिहारीलाल ने प्रेमभाव की जागृति के लिए जिन कारणों की ओर निर्देश किया है उनमें रूपदर्शन एवं वंशीस्वर श्रवण प्रधा है। इनके आधार पर उन्होंने नायि-

काओं के हृदय में पूर्वराग जागृत कराया है और कई दोहों में उन्होंने दोनों प्रेमियों के मिलन तथा एक के दूसरे के लिए विरह का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार वे कभी-कभी मान, उपालंभ एवं हास-विलासादि की भी चर्चा कर देते हैं। फिर भी उनकी उक्तियों में अधिकतर सुन्दर शब्द-विन्यास तथा चमत्कार की ही छटा दीख पड़ती है जैसे प्रेम का परिणाम दर्शाते हुए वे एक दोहे में इस ढंग से कहते हैं—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥[1]

इसी प्रकार बिहारीलाल ने किसी प्रेमिका नायिका द्वारा अपने मन के प्रियतम के सौन्दर्य में लीन हो जाने के विषय में कहलाया है—

कौनैं हूँ कोरिक जतन, अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि, पानी मैं कौ लौनु॥१८॥[2]

अर्थात् अब मेरा मन करोड़ों यत्न करने पर भी प्रियतम के सौन्दर्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, वह उसमें इस प्रकार लीन हो गया है जैसे, पानी में नमक घुल मिल जाता है जो, वास्तव में, अपनी दशा का परिचय देने वाली स्त्री की वाग्विदग्धता का ही परिचायक है। एक अन्य स्थल पर इस कवि ने किसी सखी से एक प्रेमिका नायिका के प्रेम-प्रभावित हो जाने का वर्णन उसके किसी नट के चकई-सी बन जाने का दृष्टांत देकर कराया है जो उसकी शारीरिक चेष्टाओं का चित्र खींचता हुआ भी उसके हृदय की दशा को पूर्णतः व्यक्त नहीं करता; जैसे,

---

[1] 'बिहारी रत्नाकर' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० १५०
[2] वही, पृ० १२

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नेंक न थाकति देह।
भई रहति नट कौ वटा, अटकी नागर नेह॥१९४॥[1]

अर्थात् वह नायिका अपने प्रियतम के प्रेम में इतनी उलझ गई है कि वह बार-बार उसे देखने की उत्सुकता में अटारी पर चढ़ती और वहाँ से उतरतो रहती है, किन्तु उसका शरीर तनिक भी थकना नहीं जानता। वह अपन प्रेमास्पद के प्रेम रूपी डोरे में इस प्रकार बध गई है जैसे किसी नट को चकई बँधी रहती है और नीचे ऊपर जाती रहती है।

बिहारीलाल ने नायिका के विरह-वर्णन में कुछ गंभीरता लाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु भाव की ओर से अधिक कथन-शैली पर ही ध्यान देने के कारण वे ऐसे स्थलों पर भी उतने सफल नहीं हो सके हैं। उनकी सफलता उनके सुन्दर शब्द-विन्यास पर अधिक निर्भर है; उनके अपने अनुभव की तीव्रता का उसमें कोई हाथ नहीं दीखता; जैसे,

सोवत जागत सुपन-बस, रस, रिस, चैन, कुचैन।
सुरति स्यामघन की, सु रति बिसरैं हूँ बिसरैन॥२२७॥[2]

अर्थात् किसी प्रोषित पतिका नायिका की स्मृति-दशा ऐसी हो गई है कि वह उसके सोते, जागते, स्वप्न देखते, रस की बातें करते, क्रोध में आते, चैन में रहते, बेचैन होते समय, किसी भी अवसर पर, भुलाने पर भी रंचमात्र नहीं भूलती। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण किसी प्रवस्त्यतपतिका नायिका के इस कथन में भी दिखलाई पड़ता है—

रहिहैं चंचल प्रान ए, कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी, कलन पलनु की ओट॥३९५॥[3]

---

[1] 'बिहारी रत्नाकर' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० ८३

[2] वही, पृ० ९६

[3] वही, पृ० १६२

अर्थात् मेरे उस प्रियतम ने प्रवास में रहने का निश्चय कर लिया जिसके तनिक आंखों से ओझल हो जाने पर ही मुझे कल नहीं पड़ता। अब ये मेरे चंचल प्राण कौन सा प्रतिबन्ध लगाये जाने पर रोके रुक सकेंगे ? कहो तो सही ! इसके सिवाय जहां पर बिहारीलाल किसी विरहिणी की शारीरिक दशा का वर्णन करते हैं वहाँ पर वे आवश्यकता से अधिक भी कह डालते है; जैसे,

इत आवति चलि, जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सै रहै, लगी उसासन साथ॥३१७॥[1]

अर्थात् विरह के कारण नायिका इतनी कृश हो गई है कि वह अपने ही विरहजन्य उच्छ्वासों द्वारा डोलती रहती है। जान पड़ता है कि वह जैसे किसी हिंडोले पर चढ़ी रहती है और, इसी कारण, कभी छः सात हाथ इधर चली आती है और कभी उधर चली जाती है। फिर, इसी प्रकार, ऐसी नायिका के ही, विरह के कारण, कुम्हिलाकर अपरिचित बन जाने का वर्णन वे इस ढंग से करते हैं—

कर के मीडे कुसुमलौं, गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनु हूं, नीठि पिछानी जाइ॥५१६॥[2]

अर्थात् विरह के कारण वह किसी के हाथ से मले हुए फूल की भाँति कुम्हिला गई है और उसकी दशा ऐसी हो गई है कि वह सदा समीप रहनेवाली सखियों के द्वारा भी बड़ी कठिनता से पहचानी जाती है। बिहारीलाल किसी प्रेमास्पद नायक की, उसकी प्रेमिका के प्रति, सहानुभूति जागृत कराने की चेष्टा में यहाँ तक कह डालते हैं कि विरह ने उस नायिका के शरीर को अदृश्य-सा बना दिया है और इस समय स्वयं मृत्यु आकर उसे

---

[1] **'बिहारी रत्नाकर' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० १३३**
[2] **वही, पृ० २७३**

अपनी आंखों पर चश्मा लगाकर देखती है तो भी वह उसे उसकी कृशता के कारण दीख नही पडती; और फिर भी उसे विरह नहीं छोड़ना चाहता; जैसे,

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु॥१४०॥[1]

बिहारीलाल, इस विषय में उस काल के अन्य शृंगारी कवियों के आदर्शरूप हैं। मतिराम की वर्णन चातुरी के उदाहरण में उनके दो नीचे लिखे दोहे दिये जा सकते हैं। इनमें से पहले में प्रियतम के ध्यान में प्रेमिका के शरीर का पीला होता जाना और उसके मन का, उसके रूपानुसार, श्याम होता जाना दिखलाया है और दूसरे में, उसी प्रकार, अपने प्रियतम से वियुक्त नायिका के प्रेम का, विरह ताप के कारण, किसी स्निग्ध पदार्थ (तेल, घी आदि) की भाँति, अधिकाधिक उफनाना दर्शाया गया है; जैसे,

ध्यान करत नंद लाल कौ, नए नेह में वाम।
तनु बूड़त रंग पीतमें, मन बूड़त रँग स्याम॥३१०॥[2]

तथा

ज्यों ज्यों विषम वियोग की, अनल ज्वाल अधिकाय।
त्यों त्यों तियके देह मैं, नेह उठत उफनाय॥[3]

मतिराम ने, इसी प्रकार, कहीं-कहीं प्रेमिका के प्रेमभाव की गंभीरता की ओर समुचित ध्यान न देकर उसे विनोदशीला बालिका-सा बना दिया है जैसे,

---

[1] 'बि० रत्ना०' पृ० ६२

[2] 'मतिराम ग्रंथावली' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० २०३ (मतिराम सतसई)

[3] वही, पृ० ९८ (भूमिका)

पीउ न आयो नींद कों, मूंदे लोचन बाल।
पलक उघारे पलक में, आयो होइ न लाल ॥२६९॥[1]

जहाँ पर प्रेमिका की उत्सुकता में लगभग वही बात लक्षित होती है जो बिहारीलाल की बार-बार अटारी पर चढ़ने और वहाँ से उतरने वाली नायिका में देखी जा चुकी है।

बिहारीलाल की भाँति विरह-ताप के प्रभाव का वर्णन करने में देव कवि निपुण दीख पड़ते हैं। वे इसकी ज्वाला में इतनी तीव्रता ला देते हैं जिसके सामने शीत-काल की रात्रि में पंखा करने पर भी विरहिणी नायिका की बेचैनी दूर नहीं हो पाती; जैसे,

बालम विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यों ज्यों बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखीजन त्यों सीतहु में,
सौति के सराप, तन तापनि तरफराति॥
'देव' कहै सांसन ही अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परत करौट खाटी पाटी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार जल के सूख जाने पर शुष्क स्थल पर मछली तड़पने लगती है उसी प्रकार वह विरहिणी नायिका भी खाट की पाटी से लगकर बार-बार करवटें बदलती है उसे ठंडा से ठंडा वातावरण तक शांति नहीं पहुँचा पाता। यहाँ पर, 'सौति के सराय' की ओर संकेत करते हुए भी, इस कवि ने विरहिणी के केवल शारीरिक कष्ट को

---

[1] 'मतिराम ग्रंथावली' (गंगापुस्तकमाला, लखनऊ) पृ० १९८ (मतिराम सतसई)

[2] 'देव और बिहारी' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० २१९ पर उद्धृत

ही अधिक महत्त्व दे डाला है। मानसिक वेदना को उसने सारे दुःखों का मूलस्रोत माना है, किंतु वाह्य बातों के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन द्वारा उसे भलीभाँति स्पष्ट भी नही होने दिया है ।

इसी कवि ने फिर एक अन्य स्थल पर किसी नायिका की पूर्वानुराग-जन्य अन्यमनस्कता का भी वर्णन इस प्रकार किया है—

भेष भए विष, भावै न भूषन,
भूख न भोजन की कछु ईछी।
'देवजू' देखे करै वधु सो मधु,
दूधु, सुधा, दधि, माखन छीछी॥
चंदन तौ चितयो नहिं जात, चुभी,
चितमाहिं चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यों सूल, सिला सम सेज,
बिछौननि बीच बिछी मनौ बीछी॥[1]

अर्थात् जब से पूर्वानुराग ने प्रेमिका के हृदय पर अपना अधिकार जमाया तब से उसकी दशा ऐसी हो गई है कि उसे खाना, पहनना आदि कुछ भी नही भाता, प्रत्युत अपने प्रतिकूल-सा जँचता है और वह मधुर एव सुखद पदार्थो को देखकर भी छी-छी करती है, शीतल चंदन की ओर वह दृष्टिपात तक नही करती,फूल उसके लिए शूलवत् हो गए हैं, शय्या प्रस्तर-खण्ड के समान कठोर लगती है और उस पर बिछाये गए बिछौने ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे बिच्छुओ से भरे पड़े हैं । इस प्रकार देव कवि ने यहाँ पर प्रेम द्वारा प्रभावित रमणी की मनोदशा का चित्रण करते समय उसे भली लगनेवाली वस्तुओं को भी दुःखप्रद बना दिया है । किंतु उन्होंने यह वर्णन ऐसे ढंग से किया है जिसमें उसके अतिरंजन के कारण कुछ अस्वाभाविकता भी आ गई है ।

---

[1] **'देव और बिहारी' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० २२८ पर उद्धृत**

इस काल के एक अन्यतम प्रतिनिधि कवि पद्माकर की रचनाओं में भी यह बात प्रचुर मात्रा में लक्षित होती है। उन्होंने भी इस विषय का वर्णन करते समय जितना ध्यान अपने शब्दों को सजाने की ओर दिया है उतना भावाभिव्यक्ति की ओर नही। वे अनुप्रास, यमक, एवं श्लेषादि के बड़े प्रेमी थे जिस कारण वे इनके प्रयोग गभीर विषयो के वर्णन मे भी प्रायः कर दिया करते थे।

मोहि तजि मोहनैं मिल्यो है मन मेरो दौरि,
नैनहूं मिले है देखि देखि साँवरो सरीर।
कहै 'पद्माकर' त्यों तानमय कान भये,
हौं तो रही जकि थकि भूली सी भ्रमी सी वीर॥
एतौ निरदई दई इनको दया न दई,
ऐसी दशा भई मेरी कैसे धरौं तन धीर।
होतो मनहू के मन नैनन के नैन जोपै,
काननके कान तो पै जानती पराई पीर॥७४॥'

मे पद्माकर कविने किसी प्रेमिका द्वारा कहलाया है कि मेरा मन, मेरी आखे तथा मेरे कान अब मेरे वश के नही रह गए है और वे मेरे प्रियतम मोहन मे मिलकर मुझे कष्ट पहुँचाने के साधन बन रहे है। किंतु इस कथन मे चमत्कार लाने के प्रयत्न में उन्होंने, शब्दालंकारो के प्रयोग के साथ-साथ उन इन्द्रियों के प्रति कुछ लगनेवाली बातें भी कहला दी है।

इसी प्रकार वे, अन्यत्र, किसी प्रेमास्पद के निकट उसकी प्रेमिका की दूती द्वारा उसके विरह का वर्णन कराते समय, ऐसी कथन-शैली का प्रयोग करते है जिससे उस विरहिणी के लिए सहानुभूति जागृत होने की जगह प्रेम के जादू द्वारा घटित आश्चर्यजनक घटनाओं का एक जीता-जागता

[1] 'साहित्य समालोचक' (पद्माकर अंक), पृ० १३

दृश्य खड़ा हो जाता है और हम उसे किसी प्रयोगशाला की वस्तु-सी समझने लगते हैं—

एहो नंदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरी जुरि जायगी।
कहै 'पद्माकर' नहीं तौ ये झकोरें लगे
और लौं अचाक बिन घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घन सारन को,
देखतही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लग चैन जौ लौ चेती है न चंदमुखी,
चेतैगी कहूं तौ चांदनी में चुरि जायगी ॥७९॥[1]

अर्थात् विरह ज्वाला के कारण उसका शरीर ओले की भाँति बिना घोले घुलने जा रहा है और ठंडी से ठंडी वस्तुओं तक के उपचार उसे सह्य नहीं होते और उन्हें देखते ही वह विद्युत के समान अंतर्हित हो जा सकती है। वह जब तक संज्ञाहीन है तभी तक चैन है। यदि कहीं वह चेत गई तो यह भी आशंका है कि वह कहीं चांदनी की आंच में पड़कर चुरे न जाय ! पद्माकर के इस कवित्त को पढ़ते समय देव कवि के एक सवैये का भी स्मरण होता है जिसे उन्हें नायिका की 'व्याधि' दशा का वर्णन करने के लिए लिखा है; जैसे,

फूल से फैलि परे सब अंग,
दुकूलन में दुति दौरि दुरी है।
आँसुन के जलपूर में पैरति,
साँसन सों सनि लाज लुरी है॥
'देवजू' देखिए दौरि दशा,
व्रज पौरी विथा की कथा बिथुरी है।

---

[1] साहित्य समालोचक', पद्माकर अंक पृ० १४

हेम की बेलि भई हिमराशि,
घरीक में घामसों जाति घुरी है ॥[१]

पद्माकर ने अपनी वाग्विदग्धता का परिचय बिहारीलाल की शैली में भी लिखकर दिया है; जैसे,

बहुत लाज बूड़त सुमन, भ्रमत नैन तिहि ठांव।
नेह नदी की धार में, तू न दीजियो पांव॥१३८॥[२]

फिर भी इस प्रकार की रचना करनेवाले कवियों ने प्रेम तत्त्व के निरूपण की ओर भी कभी-कभी ध्यान दे दिया है। उदाहरण के लिए देव कवि ने इस विषय को लेकर अपनी 'प्रेमचन्द्रिका' नामक एक स्वतंत्र रचना की है और उसमें इसका विशेष वर्णन किया है। देव कवि ने शृंगाररस के स्थायीभाव 'रति' का परिचय

'नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ'[३]

कह कर दिया है और उसे 'काम' का एक पर्याय वाचक शब्द मानते हुए भी उसे शुद्ध रागात्मिका वृत्ति के रूप में ही स्वीकार किया है। वे 'काम' को भी बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं और कहते हैं,

'युक्ति मुक्ति औ भुक्ति को मूल सु कहियत काम।'[४]

इस प्रकार काम शुद्ध कामना एवं काम वासना इन दोनों का ही सूचक हो सकता है। परंतु 'रति' को उन्होंने शुद्ध प्रेम के ही रूप में माना है और उसे 'विषय' से पृथक रखने का प्रयत्न किया है; जैसे,

---

[१] 'देव और बिहारी' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० २३३ पर उद्धृत

[२] 'पद्माकर अंक', पृ० २३

[३] 'भाव विलास' (प्रयाग)

[४] 'रसविलास' (भारत जीवन प्रेस, काशी), पृ० १

'यह विचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाहिं।'[1]

इसके सिवाय प्रेम की उत्पत्ति के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र उन्होंने दम्पति के हृदय को माना है और इसी कारण 'शृंगार' को भी महत्त्व दिया है। परंतु इस 'दम्पति' शब्द से उनका अभिप्राय प्रधानतः राधा एवं कृष्ण की जोड़ी का ही जान पड़ता है और इसी कारण, उन्होंने प्रेमरस का वर्णन करते समय 'पार्थिव' और 'अपार्थिव' जैसे शब्दों की अनुपयोगिता भी ठहराई है। प्रेम का परिचय देते हुए वे कहते हैं—

दंपति सरूप व्रज औतरयौ अनूप सोई,
'देव' कियो देखि प्रेमरस प्रेम नामु हैं ॥९॥[2]

इस संबंध में वे शृंगाररस का महत्त्व बतलाते हुए भी यही कहते हैं—

बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी ॥४॥[3]

देव कवि ने वास्तविक प्रेम की पहचान यह बतलाई है कि वह चाहे सुख की दशा में हो चाहे दुःखों से घिरा हो सदा एक भाव रहेगा, वह नित्य वृद्धिशील बना रहेगा और उसका प्रभाव प्रेमी के काय, वाक् एवं मन पर एक समान लक्षित होगा। ऐसे प्रेम के लिए उन्होंने कुल वधुओं के हृदय को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि उन्हींमें उन्हें वे सभी बातें मिल जाती है जो इसके लिए सर्वथा अनुकूल हैं। वे स्वभावतः लज्जाशील एवं कोमल हृदय की हुआ करती हैं जिस कारण उन्हें इसमें निपुणता बहुत शीघ्र आ जाती है। एक स्वकीया नायिका अपने पति को जिस भाव के साथ देखा

---

[1] **'प्रेम चन्द्रिका' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ७**

[2] **वही, पृ० ३**

[3] **वही, पृ० २**

करती है वह परकीया के विषय में अत्यत दुर्लभ है। परकीया के प्रेम में या तो, कई बाधाओ के कारण, कोई स्थिरता नही आ पाती अथवा यदि वह आ भी जाती है तो वह कुछ औद्धत्यपूर्ण हो जाता है। एक ऐसी ही प्रेमिका के पछतावे का उल्लेख उनके एक कवित्त मे इस प्रकार हुआ है,

मेरे मन, तेरी भूल मरीहौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूलतूल अतिही अतुल ते।
भावते ते भोड़ी करी मानिनी ते मोड़ी करी,
कौड़ी करी हीराते कनौड़ी करी कुलते ।।४४।।[1]

अर्थात् अरे मन, तू ने तो मेरे विषय मे ऐसी भूल कर दी जिसके कारण मेरे हृदय मे शूल-सा उठने लगा है और मै मरी जा रही हू। कहाँ मै कभी पहले अनुपम रमणी बनी रहा करती थी उसे तूने तृण और रुई के सदृश हल्की बना दिया, आत्मीयो के समक्ष मे एक साधारण भोदू स्त्री बन गई, स्त्रियोचित मान करने से जाती रही, हीरा से कौडी मे परिणत हो गई और कुल कलकिनी तक कहलाने लगी।

देव कवि के इस मत के विपरीत बगाल के प्रसिद्ध वैष्णव सहजिया लोगो के परकीया प्रेम का उदाहरण रखा जा सकता है। सहजिया सप्रदाय के अनुयायी वैष्णवो के अलौकिक प्रेम का मूल आधार परकीया प्रेम ही समझा जाता है। उनकी धारणा है कि भक्तिपरक भावयोग के समुचित विकास के लिए किसी साधक को चाहिए कि वह अपनी स्वकीया पत्नी का परित्याग कर किसी परकीया, और विशेषत: किसी सधवा परकीया, के साथ प्रेम करे। इस मत का समर्थन वे इस बात के आधार पर करना चाहते है कि कृष्ण एव गोपियो का प्रेम, जो उनके लिए आदर्श रूप है, इसी प्रकार का था। इसके सिवाय स्वकीया का महत्त्व उसके, शास्त्रीय नियमानुसार स्वीकृत होकर

---

[1] 'प्रेम चन्द्रिका' पृ० ४१

सृष्टि के निर्माण में सहायक होने में भी समझा जा सकता है[१], किन्तु परकीया का संबंध केवल प्रेम के ही आधार पर हुआ करता है जिस कारण वह अधिक स्वाभाविक है और, यदि वह दृढ़ मूल हो सके तो, उसके समान तीव्रता स्वकीयाप्रेम में कदाचित् ही आ सकती है। स्वकीया का प्रेम सदा अबाध गति से चला करता है और संघर्षों की कसौटी पर कसे जाने का उसे कभी अवसर नही मिला करता। परन्तु परकीया का प्रेम अपनी आरंभिक दशा से ही विविध बाधाओं के बीच पनपता और फूलता-फलता है। देव कवि ने स्वकीया के प्रेम में नियमित एकांतिकता को सबसे बड़ा महत्त्व दिया है जो स्वाभाविक एकनिष्ठता से अधिक शक्ति कभी नही रख सकती।

देव कवि ने प्रेम के कुछ भेद भी बतलाये हैं और उनका यथास्थान परिचय कराया है। उनके अनुसार प्रथम प्रकार का प्रेम 'सानुराग' कहलाता है जो शुद्ध शृंगारमय होता है और जो स्वकीया एवं परकीया में दीख पड़ता है। दूसरा प्रेम 'सौहार्द्र' कहा जाता है जो अपने परिजनों तथा स्वजन संबंधियों में हुआ करता है और तीसरे, चौथे एवं पांचवें प्रकार का प्रेम क्रमशः 'भक्ति', 'वात्सल्य' तथा 'कार्पण्य' नामों द्वारा अभिहित होता है। उसी क्रम से भक्तों, बड़े व्यक्तियों तथा वेदनायुक्त जनों में पाया जाता है। इन पांचों में भी देव कवि ने 'सानुराग' प्रेम को ही प्रधानता दी है। यह प्रेम श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं स्पर्श द्वारा सुखप्रद हुआ करता है और शृंगाररस में इसकी अभिव्यक्ति संयोग और वियोग दशा में होती है, संयोग और वियोग में भी वियोग वा विप्रलंभ शृंगार की कुल चार स्थितियाँ बतलाई जाती है जिन्हें 'पुर्वानुराग', 'सकरुण', 'मान' तथा 'प्रवास' नाम दिये गये हैं और जो स्वकीया, परकीया एवं वेश्या नामक तीन प्रकार की नायिकाओं के

[१] ताहारे स्वकीया बलि बले शास्त्रे।
सृष्टिर कारण सेई, नहे प्रेम पात्रे।
'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट,' पृ० २८ पर उद्धृत

संबंध में स्पष्ट की गई है तथा इन तीनों के अनुसार क्रमशः पति, उपपति, एवं व्यसनी नामक तीन प्रकार के नायकों की भी चर्चा की गई है। देव कवि ने स्वकीया नायिका के ही प्रेम को वास्तविक प्रेम का नाम देकर परकीया के प्रेम का केवल सुखार्थ होना बतलाया है और वेश्या के प्रेम के संबंध में कहा है कि वह अपने प्रेमपात्र को केवल 'व्यसन' के लिए चाहती है। इसी प्रकार स्वकीया नायिका के उन्होंने मुग्धा, मध्यमा और प्रौढ़ा नामक तीन भेद बतलाये हैं और परकीया को भी ऊढ़ा और अनूढ़ा नामक दो वर्गों में विभक्त किया है, किन्तु वेश्या के विषय में उन्होंने ऐसा कोई वर्गीकरण नही किया है। देव कवि ने इन सभी भेदों और प्रभेदों के उदाहरण में अनेक रचनाएं की हैं।

देव कवि की 'प्रेम चन्द्रिका' से सौ वर्षों से भी पहले रसखान की 'प्रेम वाटिका' लिखी जा चुकी थी और उसके रचयिता ने प्रेम के विषय का परिचय देने तथा उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया था। रसखान भक्ति-युगीन कवि थे और उनका दृष्टिकोण प्रेम के संबंध में धार्मिक था जहाँ देव कवि इसे साहित्यिक दृष्टि से देखते थे और इसके, उसीके अनुसार, भेद-प्रभेदादि भी करते थे। रसखान ने प्रेम के माहात्म्य और उसकी कठिनाइयों की ओर अधिक ध्यान दिया है तथा इसके 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' नामक दो भेद किये हैं किन्तु देव कवि ऐसे दो नितांत पृथक्-पृथक् वर्गों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनके लिए केवल शुद्ध प्रेम ही वास्तविक प्रेम है और वही भक्त एवं भगवान के संबंध में अपार्थिव तथा दम्पत्ति आदि के विषय में 'पार्थिव' कहा जा सकता है। किंतु देव कवि ने जहाँ स्वकीया को महत्त्व दिया है वहाँ रसखान की दृष्टि में परकीया ही सच्ची प्रेमिका मानी जा सकती है, क्योंकि प्रेम के क्षेत्र में 'लोक वेद मरजाद' तथा 'लाज, काज, संदेह' अथवा किसी प्रकार के भी 'विधि-निषेधादि' की बाधा नहीं पहुँच सकती। इसके सिवाय देव कवि ने जहाँ स्वजनों, परिजनों अथवा अन्य ऐसे प्रीति-पात्रों के प्रति प्रकट किये जानेवाले प्रेम को एक 'सौहार्द्र' नामक

पृथक् श्रेणी में रख दिया है वहाँ रसखान ने मित्र-कलत्रादि के प्रति उत्पन्न ऐसे 'सहज सनेह' को प्रेम ही नहीं माना है। रसखान का प्रेम स्वयं हरिस्वरूप है जहाँ देव कवि के लिए वह दंपत्ति स्वरूपी कृष्ण एवं राधा की युगल मूर्ति में प्रतिष्ठित है।

रीति-काल के दूसरे वर्ग वाले शृंगारी कवियों में घन आनंद का स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी प्रायः सभी रचनाओं का प्रधान विषय प्रेम वा विरह है जिसे इन्होंने अधिकतर निजी अनुभव के आधार पर ही प्रकट करने की चेष्टा की है। घन आनन्द के जीवन वृत्तात्मक उल्लेखों से पता चलता है कि ये 'सुजान' नाम की किसी वेश्या पर अनुरक्त थे। उस प्रेम के कारण उन्हें कदाचित, अपमान एवं तिरस्कार जैसे दुःखद व्यवहारों का लक्ष्य बनना पड़ा जिसकी प्रतिक्रिया में ये फिर विरक्त बन गए। फिर भी इनके प्रारंभिक जीवन के संस्कार इनमें सदा बने ही रह गए और ये अंत तक अपने प्रेमोद्गार प्रायः उसी प्रकार प्रकट करते रहे। घनानन्द ने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की और न इन्होंने रसखान वा देव की भाँति प्रेम की व्याख्या ही करनी चाही। वे कृष्ण तथा राधा अथवा गोपियों के प्रेम संबंधी प्रसंगों की स्पष्ट चर्चा भी बहुत कम किया करते थे। ये कृष्ण की ऐसी पौराणिक लीलाओं की ओर केवल संकेत भर कर दिया करते थे और उन्हींके व्याज से अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति करते रहते थे। घन आनन्द के प्रेम का भी आदर्श बहुत ऊँचा था और ये उसे राधा एवं कृष्ण के पारस्परिक प्रेम रूपी महासागर का ही एक अंश मानकर कहा करते थे कि लौकिक प्रेम उसकी 'तरल तरंगों' का एक 'कन' मात्र है जो वहाँ से आकर जगत् को आप्लावित कर रहा है।

रसखान ने प्रेम-मार्ग के विषय में कहा है कि यह अत्यंत क्षीण है और कठिन भी है। किंतु उन्होंने इसे 'अति सूधी टेढ़ो बहुरि' भी कहा है जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने इस पर पृथक्-पृथक् दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया होगा। घन आनन्द के सामने ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं।

इन्हें प्रेम के मार्ग में किसी प्रकार का भी टेढ़ापन नहीं दीख पड़ता और न इनके लिए उसमें कभी किसी प्रकार मुड़ने का ही अवसर आया करता है। प्रेम के मार्ग पर अग्रसर होने वाला अपने साथ अपना सभी कुछ ले देकर उस पर कदम उठाता है। पीछे मुड़ने के लिए कोई आकर्षण छोड़ कर वह आगे नहीं बढ़ता और न वह कोई बात पीछे सोचने-समझने के ही लिए रख छोड़ता है। घन आनन्द का इसीलिए कहना है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बांक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ, झझकें कपटी जे निसांक नहीं।।[1]

अर्थात् प्रेम का मार्ग अत्यंत सीधा है और वह केवल सीधे-सादे तथा सच्चे हृदयवाले के ही लिए उपयुक्त है, वह उनके लिए है जो अपनापन का त्याग करके आगे बढ़ना चाहते हैं और जो किसी भी प्रकार की चतुराई से काम नहीं लेते। जो अपने हृदय में कोई छलकपट रखते हैं अथवा जो किसी प्रकार के भय वा संदेह को प्रश्रय देते हैं वे इस मार्ग में कभी सफल नहीं हो पाते। घन आनन्द के अनुसार वास्तविक प्रेमी वही कहला सकता है जो न केवल अपना सर्वस्व त्याग दे और केवल इसी के रंग में रँग जाय, अपितु जो इस प्रेम के मार्ग पर आंख मूदकर और निःशंक होकर आगे बढ़े।

फिर भी घन आनन्द इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों की दशा का वर्णन करना अत्यंत कठिन समझते हैं। उनका कहना है कि प्रेमी के जीवन में केवल एक ही ढंग की बात नहीं दीख पड़ती प्रत्युत उसके साथ ही उसके नितांत विपरीत बातें भी लक्षित होती रहती हैं जिस कारण उसकी ठीक दशा का अनुमान कर पाना दुष्कर बन जाता है; जैसे,

अंतर उदेग दाह आँखिन प्रवाह आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन ग्रंथमाला), पृ० ८०**

सोइबौ न जागिबौ हूँ हँसिबौ न रोइबौ हूँ,
खोय खोय आपही ये चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन,
बिरह बिषम दशा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यो आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है ॥४१॥[१]

अर्थात् एक ओर जहाँ हृदय में दाह बनी रहती है वहाँ दूसरी ओर आँसुओं के मारे शरीर भीजा करता है। प्रेमी के सोने और जागने में अथवा उसके हँसने और रोने में कोई अंतर नहीं जान पड़ता और प्रतीत होता है कि उस दशा में खोना ही लाभ उठाना है। फिर प्रियतम सदा उसके अपने प्राणों तक में निवास करता रहता है, किन्तु उसके विरह की दशा का वर्णन मूक निवेदन-सा हो जाता है। अतएव, जब, इस प्रकार, बिना मृत्यु के भी जीवन-मरण का प्रश्न सदा छिड़ा रहता है तो फिर प्रेमी की दशा का वर्णन कैसे किया जाय।

परन्तु फिर भी घन आनन्द स्वयं अपनी प्रेम-दशा का वर्णन बार-बार किया करते हैं और उसे अपने प्रियतम से निवेदन भी करते हैं। घन आनन्द रीतिकालीन कवि हैं और उनकी विशेषताएं उनकी वर्णन-शैली में ही पाई जाती हैं। किन्तु उनके कथन में केवल शब्दों की सजावट ही नहीं रहा करती, प्रत्युत कभी-कभी कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी दीख पड़ते हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते और जिनके कारण उनकी रचनाओं में कुछ गंभीरता भी आ जाती है। उदाहरण के लिए उनके दो कवित्त नीचे दिये जाते हैं—

उन गति ब्योरिबे कों सुंदर सुजान जूको,
लाख लाख बिधि सों मिलन अभिलाखियै।

---

[१] **'रसखान और घनआनन्द' (म० ग्रं० मा०) पृ० ६७**

बातें रिस रस भीनी कसि गसि गाँस झीनी,
बीनी बीनी आछी भाँति पाँति रचि राखियै ।।
भाग जागै जो कहूँ बिलोकैं घन आनंद तौ,
ता छिन के छाकनि के लोचनही साखियै ।
भूली सुधि सातौ दसा बिबस गिरत गातौ,
रीझि बावरे ह्वै तब औरै कछु भाखियै ।।२३४।।[1]

तथा आंखें रूप रस चाखें चाहें उर संचि राखें,
लोभ लागी आँखें अभिलाखें निबरें नहीं ।
तोहि जसी भाँति लसै बरनिबौ मन बसै,
बानी गुन गसै, मति गति बिथकै तहीं ।।
जान प्यारी सुधिहूँ अपुनपौ बिसरि जाय,
माधुरी निधान तेरी नैसिक मुहाचहीं ।
क्यों करि अनंदघन लहिए संजोग सुख,
लालसानि भीजि रीझि बातें न परें कहीं ।।३०९।।[2]

अर्थात् अपने हृदय की बातों को अपने प्रियतम के सामने सविवरण कह डालने की अभिलाषा बार-बार हुआ करती है और इसके लिए इच्छा होती है, मैं किसी प्रकार उससे एक बार मिल सकूँ । उससे कहने के लिए मैं चुन-चुन कर प्रेम भरी तथा खरी-खोटी बातें भी, अपने भीतर, अच्छे ढंग से संभालकर संग्रहीत किये रहता हूँ । किन्तु यदि कहीं सौभाग्यवश उनसे भेंट हो जाती है और मैं उन्हें अपनी आँखों से देख लेता हूँ तो उस क्षण की दशा ऐसी हो जाती है जिसे संभवतः वे आँखें ही कह सकती हैं । जान पड़ता है कि मैं अपने आपको एक दम भूल गया और मेरा शरीर तक अन-स्थिर होने लगा है । उस समय मैं इस प्रकार विह्वल हो जाता हूँ कि जो

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन ग्रंथमाला), पृ० १२१

[2] वही, पृ० १४३

कुछ कहना रहता है उसकी जगह और ही कुछ कह डालता हूँ। इसी प्रकार घनानन्द फिर कहते है कि संयोग का सुख मुझे कभी नही मिलता, क्योंकि उस समय मेरे भीतर लालसा बनी रह जाती है और मैं अपनी बातें नही कह पाता। आँखें उस समय रूप सौंदर्य के अनुभव में लग जाती है, हृदय की सॅची-सॅचाई बातों को वे विवृत नही कर पाती। मन में आता है कि जो कुछ तुम्हें प्रभावित कर सके वे ही बातें तुम्हारे सामने रखूँ, किंतु बुद्धि के चकरा जाने के कारण मेरी वाणी भी फेर में पड़ जाती है। तुमसे थोड़ी-सी भी 'मुहाचंही' होते ही अपने आपको खो बैठता हूँ और कुछ कहते नही बन पाता।

आत्म-निवेदन की कठिनाई घनआनन्द को सदा सताती रहती है। उनकी अनुभूति इतनी गहरी और तीव्र है कि वे उसमें पूर्णत: लीन हो जाते है और उन्हें अपने आपको व्यक्त करने के लिए कोई साधन ही नही मिल पाता। उनकी अनुरक्ति केवल उनके मन को ही प्रभावित नही किये रहती. उनकी सारी इन्द्रियाँ उनके प्रियतम में लगी रहती है। वे कहते है-

जबतें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
तबतें गही है उर आन देखिबे की आन।
रस भीजै बैननि लुभाइ कै रचे है तहीं,
मधु मकरंद सुधा नावो न सुनत कान॥
प्रानप्यारी ज्यारी घन आनंद गुननि कथा,
रसना रसीली निसि वासर करत गान।
अंग अंग मेरे उनही के संग रंग रँगे,
मन सिंघासन पै बिराजै तिनहीं को ध्यान॥४७६॥[१]

अर्थात् जिस क्षण इन आँखों ने प्रियतम का रूप देख लिया तब से ये उन्हें अपने हृदय में देखने का अभ्यास करती रहती है। कानों की यह दशा

[१] 'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन ग्रंथमाला), पृ० १८९-९०

है कि जिस क्षण इन्होंने उनके रसीले शब्द सुने तब से ये मधुर से मधुर शब्दों तक को सुनना पसन्द नही करते। मेरी रसना सदा उन्हीका गुणगान करती रहती है और प्रत्येक अंग उन्हीके रग में रँग गया है। मन के सिंहासन पर भी सदा उन्हीका ध्यान विराजता है, इसीलिए घन आनन्द अपने प्रियतम से प्रार्थना करते हुए कहते है—

मीत सुजान अनीत करौ जिन, हाहा न हूजिये मोहि अमोही।
दीठि को और कहूँ नहि ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही॥
एक बिसास की टेक गहे लगि, आस रहे बसि प्रान बटोही।
हौ घन आनंद जीवनमूल, दई कित प्यासनि मारत मोही॥११॥[1]

अर्थात् हे सुजान मित्र, मेरे प्रति निर्मोही बनकर मुझसे दुर्नीति का व्यवहार न करो। मेरी दृष्टि को तुम्हारे सिवाय अन्यत्र कोई भी आश्रय नही, क्योकि सर्वत्र मुझे तुम्हारे ही सौदर्य की दुहाई फिरती जान पड़ती है। मेरे प्राण बटोही केवल एक तुम्हारे ही विश्वास के आधार पर टिके है, अब तुम जीवनाधार होकर भी मुझे सता रहे हो।

घन आनन्द की पंक्तियो में सर्वत्र उनकी गहरी भावुकता काम करती हुई जान पड़ती है और उनके आत्म-निवेदन मे दैन्य का अंश दीखता है। परन्तु ठाकुर कवि एक सच्चे प्रेमी होते हुए भी इस प्रकार की बातें भरसक नही आने देते। उनकी प्रेमिका का प्रेम एकान्तनिष्ठ है और उसने इसके कारण अपना लोक-लज्जा एव मान-मर्यादा आदि को तिलांजलि दे दी है। उनकी गोपी 'ऊधो' से स्पष्ट शब्दों में कह देती है,

ऊधोजी वे अँखियां जरि जायँ, जो सांवरो छाड़ि तकै तन गोरो।[2]

वह अपनी सखी से यह भी कह डालती है,

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (मनोरंजन पुस्तकमाला), पृ० ५८
[2] 'ठाकुर ठसक' पृ० ३४

अब होन दै बीस बिसैरी हँसी हिरदै बसी मूरति सांवरी री ॥[१]

वह अपने भावों का व्यक्तीकरण करते समय किसी संकोच का अनुभव नहीं करती और न उन्हें अर्द्धव्यक्त रूप में रखना चाहती है। उस प्रेमिका का कहना है,

जबतें मनमोहन जू दरसे, तबतें अँखियां ये लगी सो लगीं।
कुलकानि गई भजि वाहि घरी, ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगी ॥
कवि ठाकुर नेह के नेजन की, उर में अनी आन खगी सो खगी।
अब गांवरे नावरे कोउ धरौ, हम साँवरे रंग रँगी सो रँगी ॥[२]

इस प्रगल्भता द्वारा उसकी दृढ़ता और आत्म-निर्भरता सूचित होती है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उसकी मनोवृत्ति घन आनन्द से भिन्न प्रकार की है। ठाकुर ने इसी प्रकार किसी नायक से उसकी प्रेमपात्री नायिका के संबंध में एक स्थलपर कहलाया है—

वा निरमोहिन रूप की रासि, जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहूं बार विलोकि घरी घरी, सूरत तो पहिचानति ह्वै है ॥
ठाकुर या मन की परतीत है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है ॥[३]

अर्थात् यद्यपि वह सुन्दरी मुझसे प्रेम न करती होगी, फिर भी वह मेरे बार-बार उसके यहाँ जाते रहने से मेरा चेहरा तो पहचानती ही होगी। मुझे इस बात में तो पूरा विश्वास हो गया है कि वह प्रेम न करने पर भी इतना अवश्य जान गई होगी कि मैं उसी के लिए आया-जाया करता हूँ। ठाकुर को केवल इस अत्यंत क्षीण और निर्बल सूत्र के आधार पर ही अपने

---

[१] 'ठाकुर ठसक', पृ० १२

[२] वही, पृ० १२

[३] वही, पृ० १२

प्रेमव्रत को पूरा करना है और वे इतने मात्र पर ही दृढ़ बने हुए हैं। उन्हें इस बात में पूरी आस्था है कि सच्चा प्रेमी एक दिन सफल हो ही जाता है।

परमेसुर की परतीत यही, मिल्यो चाहत ताहि मिलावत है।[1]

ठाकुर कवि की यह प्रेम-संबंधी प्रतीति और दृढ़ता यहाँ तक बनी रह जाती है कि वे, प्रेमपात्र के विरुद्ध हो जाने पर भी, अपने प्रेम-भाव में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं आने देते और अंत तक उसे सदा एकरस निभाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी प्रेमिका इस बात में भलीभाँति परिचित है कि उसका प्रेमपात्र उसकी ओर हृदय से आकृष्ट नहीं और वह उसे समय-समय पर धोखा तक दे देता है। फिर भी वह इन बातों की कुछ भी परवा नहीं करती और उसके प्रति, ठाकुर के शब्दों में, इस प्रकार कहती है––

का करिये तुम्हरे मन को, जिनको अबलौ न मिटो दगा दीबो।
पै हम दूसरो रूप न देखिहौं, आनन आन को नाम न लीबो।।
ठाकुर एक सो भाव है जौ लगि, तौ लगि देह धरे जग जीबो।
प्यारे, सनेह निबाहिबे को हम, तो अपनो सो कियो अरु कीबो।।[2]

अर्थात् तुम्हारे कपटपटु मन पर तो मेरा कोई वश नहीं है, किन्तु अपने लिए यह मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं न तो किसी अन्य व्यक्ति का रूप देखूँगी और न किसी का नाम ही अपने मुँह पर लाऊँगी; मैं जब तक जीऊँगी मेरा भाव सदा एक ही प्रकार का रहेगा और जब तक यह इस प्रकार बना रहेगा तब तक मैं अपने ढंग से प्रेम संबंध का निर्वाह करती ही चली जाऊँगी। ठाकुर ने इस विषय में, एक अन्य स्थल पर, अपना मत भी निर्धारित कर दिया है। वे कहते हैं––

---

[1] **ठाकुर ठसक, पृ० ५४**
[2] **वही, पृ० १३**

एक ही सो चित चाहिये ओर लौं, बीच दगा कौ परै नहिं डांको।
मानिक सो मन बेंचिके मोहन, फेर कहा परखाइबो वाको॥
ठाकुर काम न वा सबको, अब लाखन में परवा न है जाको।
प्रीति करै में लगै है कहा, करिकै इन ओर निबाहिबो बांको॥[१]

अर्थात् सच्चे प्रेम की परीक्षा उसके निर्वाह ही में की जाती है।

ठाकुर कवि के पहले एक अन्य प्रेमी कवि बोधा ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में, इस प्रेम-निर्वाह के विषय में, कहा था। बोधा ने 'विरह-वारीश' नाम की एक प्रेम-कहानी लिखी है जिसमें उन्होंने प्रसिद्ध प्रेमी माधवानल और कामकंदला की कथा को, 'आपबीती' की शैली में, बड़े मार्मिक ढंग से प्रकट करने की चेष्टा की है। उस कहानी के ही बीच में वे एक स्थल पर कहते हैं—

भाँति अनेक प्रीति जगमाँही। सबहि सरस कोऊ घट नाहीं॥
जाको मन विरुझो है जामे। सुखी होत सोई लखि तामें॥
याते सुन यारी दिलदायक। कीजै प्रीति निबहिबे लायक॥
प्रीति करै पुनि ओर निबाहै। सो आशिक सब जगत सराहै॥[२]

बोधा स्वयं एक प्रेमी जीव थे और किसी 'सुभान' नामक वेश्या पर अनुरक्त रह चुके थे। उस प्रेम के कारण उन्हें अपने आश्रयदाता के दर्बार से निकाल दिया जाना पड़ा और अपनी प्रेमपात्री के विरह में वे बहुत दिनों तक इधर-उधर मारे-मारे फिरे। अन्त में उन्होंने जब अपने आदर्श माधवानल की प्रेमकथा को उपर्युक्त 'विरह-वारीश' में लिपिबद्ध किया और उस रचना की प्रशंसा उसके आश्रयदाता तक पहुँची तो वे फिर उसके दर्बार में बुला लिए गए। इस बोधा कवि ने भी ठाकुर की ही भाँति कहा है कि एक सच्चा प्रेमी इस बात की परवा नहीं करता कि उसका प्रेमास्पद भी उसे

---

[१] **'ठाकुर ठसक', पृ० ६**

[२] **'विरह-वारीश' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृ० ५**

उसी प्रकार चाहता है वा नहीं। ऐसा प्रेमी अपने प्रेमपात्र को सदा अपनी प्रेम-पिपासा को तृप्त करने वाला मानता है और उसे स्वय चाहता रहना है; जैसे,

उपचार औ नीच विचारने ना, उर अन्तर वा छवि को घर है।
हमको वह चाहै कि चाहै नहीं, हम चाहिए वाहि वियाहर है॥[1]

बोधा कवि ने अपनी इसी धारणा के कारण प्रेम-मार्ग को अत्यंत विकट बतलाया है और कहा है—

अति छीन मृनाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पांव दे आवनो है।
सुई वेह ते द्वार सकीन जहां, परतीति को टांडो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते, चढ़ि तापै न नेकु डरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है॥

अर्थात् इस प्रेम के मार्ग पर चलना उतना ही कठिन है जितना कि एक मृणाल ततु से भी क्षीण एव कोमल वस्तु पर पैर देकर बढना कहा जा सकता है। इस मार्ग मे रहते हुए भी सुई के छिद्र से भी सकीर्ण स्थान मे 'प्रतीति का टांडा' लदवाना पड़ता है। इस पर निर्भय एव नि शक होकर रहना उसी प्रकार दुष्कर है जैसे किसी भाले की तेज नोक पर चढना वा तलवार की धार पर दौड़ना कहा जा सकता है। फिर भी इसकी कठिनाई को वे लोग भलीभाँति नही समझ पाते जो ऐसे प्रेम-पथिक को बाहर मे देखते और उस पर अपनी टीका-टिप्पणी करते है जिस कारण, बिना किसी प्रकार की सहानुभति के वह भीतर ही भीतर कष्ट पाता रह जाता है। बोधा कहते है—

---

[1] 'इश्क़नामा'

[2] वही

कसक लगी जाके हिय में, ताही हिय में कसको री।
सहर तमासा देखत सबही, तिनको होत हँसी री॥
प्रसुत पीर वन्ध्या क्या जानै, झलकन पहिरी पीरी।
दिल जानै क दिलवर जानै, दिल की दरद लखी री॥१०॥[१]

बोधा कवि के अनुसार यह कसक अत्यंत दुःखप्रद हुआ करती है, किन्तु तो भी प्रेमी अपने मार्ग से मुंह नहीं मोड़ता। वह अपने रंग में सदा एक-सा बना रहता है और इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि मैं किसी प्रकार अपने प्रियतम को प्राप्त कर लूं। ऐसे प्रेमी की दशा बड़ी विचित्र हो जाती है और वह किसी योगी की भाँति अपनी धुन में रहकर सदा चक्कर लगाता रहता है; जैसे,

मुख बोलै न हेरै हँसै न लसै, ना धसै दरवाजे बसे पलहूँ।
रजा तेरी सुभान सुभान तुही, यों कहै न कहै कछू भीख चहूँ॥
उर याके लगी सु न कोऊ लखै, कहने को नहीं सहने बरहूँ।
मन जोगिया प्रेम वियोग परै, भँवरी दे फिरै न थिरै कबहूँ॥५॥[२]

इस कारण प्रेम का करना और उसे अंत तक निभा ले जाना अपने प्राणों से बाजी लगा देने के समान हो जाता है; जैसा कबीर साहब ने कहा है—

अगिनि आँच सहना सुगम, सुगम खड़ग की धार।
नेह निभावन एकरस, महा कठिन व्योहार॥

अथवा जैसा कि लोक-लज्जा से डरनेवाले प्रेमियों से स्वयं बोधा ने भी कहा है—

---

[१] इश्क़नामा

[२] वही

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को,
वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गांव को गेह को देह को नातो,
सनेह में हातो करै पुनि सोऊ॥
बोधा सुनीति निबाह करै घर,
ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीत डरात जो मीत तौ,
प्रीति के पंडे परे जनि कोऊ॥१४॥[1]

बोधा ने इस प्रकार प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा रखा है और उसे संभवतः अपने निजी अनुभव में लाने का प्रयत्न भी किया है। उनके जीवन-संबंधी प्रेम-कथा के विषय में चाहे जो भी व्याख्या की जाय उनके वास्तविक अभिप्राय की ओर ध्यान देने से पता चल सकता है कि बोधा के समान नैतिक साहस वाला मनुष्य किसी कलुषित विचार से अभिभूत नही हो सकता।[2] फिर 'विरह-वारीश' की ही कुछ पंक्तियों द्वारा जान पड़ता है कि उनके इस 'इश्क़ मजाजी' में 'इश्क़ हक़ीकी' का ही रंग है और प्रेम को वे भी लगभग उसी प्रकार स्वयं कृष्णरूप मानते हैं जिस प्रकार रसखान ने इसे 'हरिरूप' माना था। बोधा कवि के शब्दों में—

होय मजाजी में जहाँ इश्क़ हक़ीकी खूब।
सो सांचो ब्रजराज है जो मेरा महबूब॥[3]

उनकी 'विरह-वारीश' वाली प्रेम-कथा को इसी कारण, कुछ लोग सूफ़ी कवियों की प्रेम-गाथाओं में भी स्थान देना चाहते हैं। वे लोग अपनी

---

१ **'इश्कनामा'**

२ **'बोधा कवि के प्रेम संबंधी विचार' (परशुराम चतुर्वेदी)—'श्री शारदा', बैशाख सं० १९८०, पृ० २५**

३ **'विरह-वारीश' (न० कि० प्रेस, लखनऊ), पृ० ४**

इस धारणा का समर्थन इस बात से भी करते दीखते हैं कि बोधा ने अपनी इस रचना में एक 'सुआ' की चर्चा की है जो जायसी की 'पदुमावती' के हीरामन की भाँति प्रेमी माधवानल को सहायता पहुँचाता है। किन्तु फिर भी 'विरह-वारीश' की रचनाशैली वैसी प्रेम कहानियों से कई बातों में भिन्न दीखती है और इस पुस्तक की पूरी प्रति न मिल सकने से भी अंतिम निर्णय देना कठिन है। माधवानल और कामकंदला की प्रेम-कथा का वर्णन भक्ति-काल के अन्तर्गत आलम कवि ने किया था और फिर बोधा के अतिरिक्त, रीति-काल में हरनारायण कवि ने भी इस विषय को लेकर एक कथात्मक काव्य की रचना की किन्तु वह पुस्तक उपलब्ध नहीं।

७. मध्यकालीन अन्य काव्य

रीति-काल के शृगारी कवियो ने अपनी रचनाओ मे राधा एव कृष्ण के नामो का प्रयोग करते हुए भी लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया और कभी-कभी अलौकिक प्रेम की ओर सकेत करने समय भी, उसकी ओर विशेष ध्यान नही दिया। परन्तु उनके समकालीन कतिपय ऐसे भक्त कवि भी हुए जिन्होने अपनी पूर्व प्रचलित परपरा का अनुसरण करना अपना कर्त्तव्य समझा। ऐसे कवियो मे नागरीदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिनका समय स० १७५६ से स० १८२१ पक बतलाया जाता है। नागरीदास के छोटे-बडे सभी ग्रन्थो की सख्या ७५ तक मानी गई है जिनमे से केवल प्रेम के विषय पर इनका 'इश्क चमन' प्रसिद्ध है। 'इश्क चमन' मे इन्होने रसखान की भाँति प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित किया है और उसे स्वय परमात्मा की 'झलक' ठहराया है; जैसे,

इश्क उसीकी झलक है, ज्यों सूरज की धूप।
जहाँ इश्क तहँ आपु है, कादिर नादिर रूप ॥६८॥'

अर्थात् जहाँ कही भी प्रेम का भाव रहता है वहाँ उसे उस अनिर्वचनीय परमात्मतत्त्व के अश रूप मे ही स्वीकार करना चाहिए। फिर भी, नागरीदास के अनुसार, अलौकिक प्रेम का आविर्भाव, बिना उसके लौकिक प्रेम के रूप मे पहले अनुभव किये, नही हो सकता। वे कहते है,

---

'ब्रज माधुरी सार' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संस्करण), पृ० २०३

कहूँ किया नहि इस्क का, इस्तेमाल सँवार।
सो साहिब सों इस्क वह, करि क्या सक गँवार ॥६९॥[1]

अर्थात् यदि कही पहले लौकिक प्रेम का अभ्यास सभालकर नही किया गया तो फिर भगवान् से प्रेम करना असभव-सा ही होगा। इस प्रकार नागरीदास ने यहाँ पर किसी न किसी रूप मे उस मत का ही समर्थन किया जो सूफी सप्रदाय वालो को भी मान्य था। इन्होने आदर्श प्रेमियो की अल्प सख्या की ओर सकेत करते समय केवल मजनू का ही नाम भी लिया है। वे कहते हैं—

कोइ न पहुँचा वहाँ तक, आसिक नाम अनेक।
इस्क चमन के बीच में, आया मजनू एक ॥७२॥[2]

इस कथन का आधार कदाचित वह प्रसिद्धि हो जिसके अनुसार कहा जाता है कि जब मजनू अपनी प्रियतमा के प्रेम मे रहकर मर गया और वह खुदा के सामने लाया गया तो उससे खुदा ने पूछा कि "तू लैला के बजाय मुझसे प्रेम करके मुक्त क्यो नही हो गया ?" जिसके उत्तर मे उसने कहा, "यदि आप लैला के रूप मे आये होते तभी मै ऐसा करता, मेरे लिए लैला ही परमेश्वर है।" नागरीदास ने इसी प्रकार प्रेम का व्रत स्वीकार करने वालो की कठिनाइयो का भी वर्णन किया है। इन्होने राधा एव कृष्ण की लीलाओ को भी अपने काव्य का विषय बनाया है और अपनी रचना 'मनोरथ मजरी' मे 'वृन्दावन धरनि' तक के प्रति उत्कट प्रेम व्यक्त किया है।

इस काल के सत कवियो ने भी प्रेम के विषय पर कुछ कम नही लिखा। बाबालाल (स० १६४७—१७१२) इस काल के एक ऐसे सत थे जिनके सिद्धातो पर वेदात के साथ-साथ सूफीमत का भी प्रभाव बहुत स्पष्ट था और

---

[1] 'ब्रज माधुरीसार' (हि० सा० स०), पृ० २०४

[2] वही, पृ० २०४

उन्होंने इस बात का परिचय अपने अनेक दोहों में दिया है। इनके अनुसार उनकी साधना का प्रधान लक्ष्य अपने जीवन को परमात्मा के प्रेम मे ओत-प्रोत कर देना है। किन्तु फिर भी उन्होने प्रेम की कोई परिभाषा नही दी है, अपितु एक स्थल पर बतलाया है कि यदि इसकी व्याख्या हो पाती तो यह उतना उच्च स्थान ही नही ग्रहण करता। बाबालाल के ही एक समकालीन सत यारी साहब (मृ० सभवतः स० १७२५) भी थे जो बावरी पथ के अनुयायी थे किन्तु जिनका मत बाबालाल की विचार-धारा के बहुत निकट था। उनकी रचनाओ मे परमात्मा के प्रति दाम्पत्यभाव का प्रेम अनेक स्थलो पर लक्षित होता है और उन पर सूफ़ी कवियो का रंग भी बहुत चढा है। वे स्पष्ट शब्दो में कहते हैं कि—

हमारे एक अलह पिय प्यारा है ॥१॥
घट घट नूर मुहम्मद साहब, जाका सकल पसारा है।
× × ×
आवै न जाय मरै नहि जीवै, यारी यार हमारा है।[1]

—ये उसी पति रूपी परमात्मा के मिलन के लिए आतम नारि सुहागिनी की उत्सुकता का वर्णन करते है और उसीकी प्राप्ति हो जाने पर उसके सुखद संयोग का रूपक बाँधकर 'आनंद मगल' का गान भी करते है; जैसे,

आतम नारि सुहागिनी, सुंदर आपु सँवारि।
पिय मिलवे को उठि चली, चौमुख दियना बारि ॥८॥[2]

और,

बिरहिनी मंदिर दियना बार ॥टेक॥
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उजियार ॥१॥

---

[1] 'यारी साहब की रत्नावली' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० २
[2] वही, पृ० २२

प्रान पिया मेरे गृह आयो, रचि पचि सेज सँवार ।।२।।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निरंकार ।।३।।
गावहु री मिलि आनँद मंगल, यारी मिलिकै यार ।।४।।[१]

यहाँ पर 'निर्गुण' एवं 'निराकार' परमात्मा के, सुषुम्ना नाड़ीके आधार पर उपलब्ध, मिलन का वर्णन दाम्पत्यभाव के साथ किया गया है।

आत्मा एवं परमात्मा के इस पारस्परिक मिलन का परिचय यारी साहब के प्रशिष्य गुलाल साहब (मृ० सं० १७६०) ने वर्षा ऋतु के उस वातावरण का रूपक बाँधकर किया है जो ताप के अनंतर अत्यंत सुखप्रद प्रतीत होता है। उनके अनुसार जिस प्रकार ग्रीष्मजनित उष्णता का अनुभव कर चुकने-वाले व्यक्ति के लिए बूँदों की झडी का प्रत्येक क्षण आह्लादजनक एवं स्फूर्ति-दायक जान पड़ता है उसी प्रकार विरहिणी आत्मा को भी उक्त संयोग का सुख अपने विरहजन्य ताप के अनंतर अनुभूत होने लगता है; जैसे,

आजु झरि बरखत बुंद सोहावन।
पिया कै रीति प्रीति छबि निरखत, पुलकि पुलकि मन भावन ।।१।।
सुखमन सेज जे सुरति सँवारहिं, झिलमिलि झलक दिखावन।
गरजत गगन अनंत सब्द धुनि, पिया पपीहा गावन ।।२।।
उमग्यो सागर सलिल नीर भरयो, चहुँ दिसि लगत सोहावन।
उपज्यो सुख सनमुख तिरपित भयो, सुधि बुधि सब बिसरावन ।।३।।
काम क्रोध मद लोभ छुट्यो सब, अपनेहि साहब भावन।
कह गुलाल जंजाल गयो सब, हरदम भादो सावन ।।४।।[२]

यहाँ पर गुलाल साहब ने अपने भीतर अनुभूत होने वाली परमज्योति की झिलमिलाहट को विद्युतछटा का रूप दिया है, अनाहत शब्द को पपीहे की पी-पी वाली पुकार मान लिया है और सर्वत्र एक भाव के साथ उत्पन्न

---

[१] **'यारी साहब की रत्नावली' (बे० प्रे० प्रयाग), पृ० १**
[२] **'गुलाल साहब की बानी' (बे० प्रे०, प्रयाग), पृ० ३१-२**

होनेवाले आनंद को उमड़ते अपार जलराशि के रूप में ग्रहण कर लिया है जिसके अनुभव की तृप्ति उन्हें संज्ञाहीन-सी कर देती है। अपने प्रियतम के साथ उनकी तन्मयता इतनी गंभीर हो जाती है कि उन्हें काम, क्रोधादि जैसे मनोविकारों का कहीं पता तक नहीं चलता।

परंतु इस प्रकार का मिलन-सुख केवल उसीके लिए संभव है जो संतों के आदर्श 'प्रेम' का रहस्य जानता हो। यह प्रेम बहुत महंगा पड़ता है और इसकी स्थिति में आ जाने पर असंभव का संभव बन जाना कोई दुष्कर कार्य नहीं रह जाता। इस बात को गुलाल साहब के शिष्य भीखा साहब (मृ० सं० १७९१) ने अपने पद में इस प्रकार बतलाया है—

कहा कोउ प्रेम बिसाहन जाय।
महँग बड़ा गथ काम न आवे, सिर के मोल बिकाय॥१॥
तन मन धन पहिले अरपन करि, जग के सुख न सोहाय।
तजि आपा आपुहि ह्वै जावै, निज अनन्य सुखदाय॥२॥
यह केवल साधन को मत है, ज्यों गूंगे गुड़ खाय।
जानहिं भले कहैं सो कासो, दिलकी दिलहि रहाय॥३॥
बिनु पग नाच नैन बिनु देखै, बिन कर ताल बजाय।
बिन सरवन धुनि सुनै विविधि विधि, बिन रसना गुनगाय॥४॥
निरगुन में गुन क्यों कर कहियत, व्यापकता समुदाय।
जहँ नाहीं तह सब कछु दिखियत, अँधरन को कठिनाय॥५॥
अजपा जाप अकथ को कथनो, अलख लखन किन पाय।
भीखा अविगति की गति न्यारी, मन बुधि चित न समाय॥६॥[1]

वास्तव में प्रेम की यह दशा उसकी पराकाष्ठा को सूचित करती है जो साधारणतः संभव नहीं कही जा सकती। इस स्थिति में आ जाने पर न केवल प्रेमी एवं प्रेमपात्र एकरूप हो जाते हैं, अपितु उनकी एकाकारता

[1] 'भीखा साहब की बानी' (बे० प्रे०, प्रयाग), पृ० ३३

किसी अनिर्वचनीय आनंद में परिणत भी हो जाती है। वैसी दशा में फिर कहने सुनने की कौन कहे, अनुभव करने तक का कोई प्रश्न नहीं रह जाता।

फिर भी इस दशा का वर्णन इस काल के अनेक संतों ने अपने-अपने ढंग से किया है और इसका कुछ परिचय दिलाने की भी चेष्टा की है। प्रेमी एवं प्रेमास्पद का संबंध, साधारण प्रकार से, द्वैतभाव की अनुभूति का आधार चाहता है। बिना दो की कल्पना किये इसके अस्तित्व का अनुमान करना असंभव-सा जान पड़ता है और इसी कारण, भक्ति के लिए एक पृथक् भगवान् आवश्यक है। किन्तु प्रेम का यह नैसर्गिक गुण है कि वह दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भी बीच क्रमशः अधिकाधिक अभिन्नता का भाव भरता जाता है और पारस्परिक प्रेम द्वारा प्रभावित हो जाने पर उनमें अपूर्व समानता दीख पड़ने लगती है। इस प्रकार द्वैत भाव की ओर से अद्वैत भाव की ओर बढ़ना प्रेम के स्वाभाविक नियमों का परिणाम हुआ करता है और इस बात के उदाहरण हमें प्रसिद्ध प्रेमियों के जीवन में भी मिल सकते हैं। भक्ति की व्याख्या करने वाले प्राचीन आचार्यों ने जो मुक्ति के चार भेद बतलाये हैं और उन्हें 'सालोक्य', 'सामीप्य', 'सारूप्य' एवं 'सायुज्य' के नाम दिये हैं उन्होंने भी अपने सामने भक्तों के उन विविध आदर्शों को ही रखा था जिनके अनुसार वे अपने इष्टदेव के क्रमशः, लोक में, सान्निध्य में, रूप सादृश्य में तथा स्वरूप में अवस्थित हो जाने की अभिलाषा करते हैं। भेद की ओर से अभेद के प्रति अग्रसर कर प्रेमी वा भक्त को मिला देना प्रेम का सर्वप्रधान उद्देश्य है। अतएव, जिस व्यक्ति की आस्था अद्वयता के प्रति सिद्धांततः बनी रहती है उसके प्रेम का स्वरूप अवश्य ही अनिर्वचनीय होगा। किन्तु एक बात यह भी निश्चित-सी है कि मनुष्य अपने गूढ़ से भी गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है और यह भी चाहता है कि उसका प्रकाशन ठीक उसी रूप में हो जिसका उसने स्वयं अनुभव किया है। जब उसके शब्द उसका प्रतिरूप यथावत् नहीं खींच पाते और उससे उसे संतोष नहीं होता तो वह उन्हें बार-बार बदलने लगता है जिससे ऐसे चित्रों की संख्या में

वृद्धि हो जाती है और जो लोग उसकी कठिनाइयों से अवगत नहीं रहते उन्हें उसके कथन में द्विरुक्तियाँ तक दीखने लगती है। उच्च कोटि के संत जिनका जीवन अलौकिक प्रेम से सदा ओत-प्रोत रहा करता था प्रायः ऐसे ही कथन किया करते थे। उदाहरण, के लिए,

रज्जब बूंद समंद की, कित सरकै कित जाय।
साझा सकल समंद सों, त्यूं आतम राम रमाय॥२६॥[1]
रज्जब रमि रमि राम सों, पीवै प्रेम अघाय।
रसिया रस मैं ह्वै रह्या, सो सुख कह्या न जाय॥ १ ॥[2]
हरि दरिया मैं मीन मन, पीवै प्रेम अगाध।
महा मगन रस में रहै, जन रज्जब सो साध॥ ६ ॥
प्रेम प्रीति हित नेह कूं, रज्जब दुविधा नांहि।
सेवक स्वामी एक ह्वै, आये इस घर मांहि॥ ५ ॥[3] **इत्यादि**

इस काल के संत कवियों पर वेदांत मत एवं सूफ़ी मत का प्रभाव बहुत अधिक था जिस कारण प्रेम के विषय में लिखते समय वे इन दोनों का समन्वय कर लेते थे और दाम्पत्य भाव की अनुभूति को अधिक महत्त्व भी दिया करते थे। कुछ संतों ने 'सुरत शब्द योग' की साधना का वर्णन करते समय भी प्रेम एवं विरह का भाव लाने की चेष्टा की है और उसे पूरी प्रेम-साधना का रूप दे दिया है। संत रामचरणदास (सं० १७७६—१८५५) जिन्होंने 'राम सनेही संप्रदाय' की स्थापना की थी ऐसे ही संतों में थे। प्रेम को वे बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करते थे और वस्तुतः इसी कारण उन्होंने अपने पंथ का नाम भी उक्त प्रकार का रख लिया था। अपने राम ब्रह्म की उपासना-पद्धति का स्वरूप दर्शाते हुए उन्होंने अपने ग्रंथ 'शब्द प्रकाश' में इस प्रकार कहा है—

---

[1] **'रज्जब जी की वाणी' (बंबई), पृ० १३८**

[2] **वही, पृ० १५५**

[3] **वही, पृ० १५६**

"रामनाम तारक मंत्र है जिसे सद्‌गुरु की कृपासे प्राप्त कर श्रद्धापूर्वक नित्यशः स्मरण करना चाहिए। इसे श्रवण करते ही इसके प्रति प्रेम बढ़ना चाहिए तथा रसना द्वारा इसका अभ्यास आरंभ हो जाना चाहिए। पद्मासन में बैठकर मन को स्थिर करके अपने श्वास-प्रश्वास में इसकी धारणा को प्रवाहित कर देना चाहिए और इस प्रकार अपने भीतर उस नाम के नामी के प्रति विरह का भाव जागृत करना चाहिए। नाम-स्मरण के निरन्तर चलते-चलते एक प्रकार की मिठास का अनुभव होने लगता है और विश्वास भी दृढ़तर होता जाता है। फिर तो उक्त शब्द अपने कंठ में उलझ-सा जाता है और अपनी दशा पूरे विरही की भाँति हो जाती है जो न तो किसी अन्य बात मे रुचि रखता है और न अपने शरीरादि को ही कुछ समझता है। अंत मे वही शब्द क्रमशः उतरकर हृदय में आ लगता है और उसे परमात्मा की अलौकिक ज्योति द्वारा आलोकित करता हुआ नाभिस्थान में विश्राम लेता है तथा नाभिकमल में एक प्रकार की ध्वनि गूँज उठती है।"[1] संत रामचरण ने इसके अनंतर फिर उस दशा का वर्णन किया है जिसमें इसके प्रभाव मे

'रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे अंतर तांत ठुणक्कै' आदि

और, अंत में, बतलाया है,

'सुख सागर मिल सुख पद पाया। सो शब्दों में कहि समझाया ॥'[2]

इस बात को वे अन्यत्र इस प्रकार भी कहते हैं,

प्रेम का दीपक जोय मंदिर में, प्रीति का पिलंग बिछाय।
शील श्रृंगार साज पिव परशुं, अंगसूं अंग लगाय ॥[3]

---

[1] परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' (लीडर प्रेस, प्रयाग), पृ० ६१७

[2] 'रामस्नेही धर्म-दर्पण' (मनोहरदास), पृ० ९१-९३ पर उद्धृत

[3] वही, प० ९७

और अपने आनंदोल्लास को प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं।

इस काल के संत कवियों में से कुछ ने सूफ़ियों के प्रभाव में प्रेम-गाथाओं की भी रचना आरंभ कर दी थी। संत धरनीदास (विक्रम की १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने अपनी रचना, 'प्रेम परगास' का निर्माण एक प्रेम कहानी के आधार पर ही किया।

उन्होंने इसमें, मनमोहन एवं प्रानमती की प्रेम-कथा लिखते समय उनके विरहादि का वर्णन प्रायः उसी ढंग से किया है जिस प्रकार से सूफ़ी कवि करते आ रहे थे और सौदागर एवं मैना का प्रसंग भी ला दिया है। आत्मा एवं परमात्मा के बीच दाम्पत्यभाव की कल्पना करते हुए धरनीदास अपनी इस रचना के लगभग आरंभ में ही कह देते हैं—

इस्त्रि पुरुष को भाव, आतमा औ परमातमा।
बिछुरे होत मेराव, धरनी प्रसंग ध्रनी कहत॥

अर्थात् आत्मा और परमात्मा के बीच पत्नी और पति का भाव रहा करता है और, दोनों के वियुक्त होने पर भी, फिर उनका मिलन हो जाता है जैसा कि एक 'धरनो प्रसंग' अथवा लौकिक कथा के प्रसंग से बाबा धरनीदास ने इस बात को स्पष्ट किया है। इसके अनंतर एक 'अस्लोक' के द्वारा उन्होंने यह भी बतला दिया है कि उक्त प्रेम-कथा के विस्तार में नायिका को आत्मा, नायक को परमात्मा, सौदागर को गुरु और मैना को मन समझना चाहिए जिसे फिर उन्होंने कुछ अर्द्धालियों द्वारा भी विवृत कर देने की चेष्टा की है। परंतु बाबा धरनीदास की इस प्रेम-कथा में भी प्रथम प्रयत्न पुरुष की ओर से ही होता है जो, उक्त संकेत के अनुसार, परमात्मा का प्रतीक है और जिसे सौदागर के पास से मोल लिया हुआ 'परमारथ' मैना 'प्रानमती' स्त्री के प्रति उन्मुख करता है। अतएव, सूफ़ियों का प्रभाव यहाँ भी लक्षित होता है। बाबा धरनीदास के पहले भक्त नंददास ने अपनी प्रेम-कहानी 'रूप मंजरी' में उसकी नायिका के हृदय में ही पहले प्रेम का भाव जागृत

कराया था और उसके अनंतर श्रीकृष्ण की ओर से उसे स्वप्न दर्शन दिलाया था जो भारतीय परंपरानुकूल है। फिर भी इस कहानी में आये हुए भिन्न-भिन्न स्थानों की स्थिति से जान पड़ता है कि इसका रचयिता किसी भिन्न साधना का समर्थक है।

बाबा धरनीदास के अनंतर संत दुखहरन ने भी एक प्रेम-गाथा 'पुहुपावती' के नाम से सं० १७२६ में लिखी जिसमें प्रेम-कहानी के व्याज से संतमत की अनेक बातों का स्पष्टीकरण, कुछ अधिक सफलता से, किया गया जान पड़ता है। परंतु दुखहरन के पीछे किसी अन्य संत द्वारा लिखी गई इस प्रकार की प्रेम-गाथा का अभी तक पता नहीं लग सका है।

हिन्दी भाषा में लिखने वाले सूफ़ी कवियों में से भी कई एक ने इस काल में अपनी-अपनी रचनाएं प्रस्तुत की। सूफ़ी-प्रेमगाथाकी परंपरा में इस काल के क़ासिम शाह, नूर मुहम्मद, शेख़ निसार जैसे कवियों की कृतियाँ प्रसिद्ध है। क़ुतबन, जायसी, मंझन और उसमान ने इसके पूर्व प्रेम-कहानी के घटना क्षेत्र को अधिकतर भारतवर्ष से लेकर दक्षिण में सिंहल द्वीप तथा उत्तर में नेपाल तक सीमित कर दिया था और वहाँ पर वे भारतीय वातावरण एवं भारतीय संस्कृति की ही चर्चा किया करते थे। समुद्र और वन तथा राक्षस और देवतादि संबंधी जो घटनाएं वर्णित की जाती हैं उनमें भी भारतीय परंपरा का ही अनुसरण किया गया प्रतीत होता था। इस काल के पूर्व वाले सूफ़ी कवियों में 'जान' ही ऐसे थे जिन्होंने अपनी रचनाओं में तुर्किस्तान और चीन जैसे एकाध दूर-दूर के देशों का भी उल्लेख किया था और वहाँ के सुलतानों तथा इतर व्यक्तियों को कतिपय प्रसंगों में लाकर उनकी चर्चा कर दी थी। प्रेम-पाश के बंधनों में पड़ने वाले नायक वा नायिकाओं के प्रति व्यापक सहानुभूति का प्रदर्शन तथा घटना वैचित्र्य के उल्लेखों द्वारा उनकी कहानियों की ओर अधिकाधिक आकर्षण उत्पन्न करना जान कवि का प्रधान उद्देश्य जान पड़ता था। बादशाह हारूँरशीद की परोप-

कारिता का प्रसंग जैसी बातें उनकी रचनाओं में केवल दो-चार बार ही आ सकी हैं ।

परंतु भारत में अब मुगलों का शासन दृढ़ आधार ग्रहण कर चुका था और मुस्लिम संस्कृति का प्रचार भी होने लगा था । अतएव, ऐसी प्रेम-कहानियों में मुस्लिम परंपराओं का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ने लगना भी एक साधारण सी बात हो गई । इस काल के सूफ़ी कवियों ने न केवल कभी-कभी घटना क्षेत्र में परिवर्तन कर दिया, अपितु प्रेमी और प्रेमास्पद को भी विदेशी बना डाला । इस कारण प्रेम-कहानियों के पढ़नेवालों को क्रमशः इस बात का भी अनुभव होने लगा कि वास्तविक प्रेम पद्धति सर्वत्र एक ही है । क़ासिमशाह ने अपनी रचना 'हस जवाहर' (रचना काल सं० १७९३) में घटना क्षेत्र का विस्तार बलख़ से लेकर चीन तक कर दिया परंतु उसके नायक एवं नायिका के नाम तथा उनकी रहन-सहन को अधिकतर भारतीय सांचे में ही ढालकर दिखलाया । उन्होंने इस प्रेम-कहानी की अन्य बातों में दोनों प्रकार के उदाहरण रखे । यदि कहीं 'मुलतान', 'वज़ीर', 'परी' और 'हज़रत ख्वाज़ा खिज्र' की चर्चा की तो अन्यत्र 'चीर', 'शब्द', 'वीरनाथ' और भारतीय 'बारात' का भी उल्लेख कर दिया । क़ासिमशाह ने इस बात की चिंता नहीं की कि एक देश की बातों को दूसरे देशों के वातावरण में ठीक उसी रूप में दिखलाना अस्वाभाविक समझा जा सकता है । इस कवि को कदाचित् प्रेमभाव की व्यापकता में पूर्ण आस्था रही और वह प्रेम के नाते सभी प्राणियों को एक समान मानता था ।

इस काल के एक दूसरे सूफ़ी कवि शेख़ निसार ने अपनी प्रेम-गाथा 'यूसुफ़ जुलेखा' (रचना काल सं० १८४७) में प्रेम-कहानी के पात्रों तथा वातावरण एवं घटनादि के विषय में आमूल परिवर्त्तन कर दिया । उन्होंने अपने कथानक को शामी देशों के साहित्य से उधार लिया और उसे स्वभावतः विदेशी क्षेत्रों में ही रहकर विकसित भी किया । उस रचना के नायक और नायिका अर्थात् यूसुफ़ और जुलेखा

शामी जाति के लिए सुपरिचित व्यक्ति थे, यद्यपि भारत के लिए नवीन थे। शेख़ निसार स्वयं एक धार्मिक व्यक्ति थे इस कारण उन्होंने अपनी इस प्रेम-कहानी द्वारा उस अलौकिक प्रेम की ओर ही संकेत किया जो उनकी मान्यताओ के सर्वथा अनुकूल था और इसके नायक को भी उन्होने 'हज़रत' यूसुफ़ के रूप में दिखलाया। इसके लिए शेख़ निसार को अपनी रचना के अन्तर्गत यूसुफ़ के पिता नबी याक़ूब और उनके अलौकिक प्रभावो का भी उल्लेख करना पडा तथा मिश्र देशादि की विविध सामाजिक रूढियों तक का वर्णन आवश्यक प्रतीत हुआ। फिर भी उनकी प्रेम-कहानी में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि प्रेम-भाव का प्रथम आरम्भ इसमे जुलेख़ा की ही ओर से होता है। वही यूसुफ़ को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होती है, उसके विरह में व्याकुल होती है और उसके समक्ष नत-मस्तक तक बन जाती है। इस कारण प्रेम-पद्धति का यह दृष्टांत भी, वस्तुत, भारतीय दृष्टिकोण के ही अनुकूल ठहरता है। शेख़ निसार के सौ वर्ष पीछे कवि नसीर ने इस कथानक के आधार पर फिर अपनी एक प्रेम-कहानी 'प्रेमदर्पण' नाम से सं० १९७४ में लिखी जिसमें यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। इस प्रेम-गाथा की एक विशेषता यह भी जान पड़ती है कि इसमें उन कई बातों के उल्लेख का नितांत अभाव है जो अन्य सूफ़ी प्रेम-गाथाओं में बहुधा पीर, परेवा वा गुरु जैसे मार्ग प्रदर्शकों के रूप में दीख पड़ती हैं।

क़ासिमशाह के अनन्तर किंतु शेख़ निसार के पहले, नूर मुहम्मद नामक एक अन्य सूफ़ी कवि ने भी दो उल्लेखनीय प्रेमगाथाएं लिखी थीं जिनकी सर्वप्रथम विशेषता उनमें आये हुए पात्रों के नामों से दीख पड़ती है। 'इन्द्रावति' (रचना काल सं० १८०१) एक बहुत बड़ी रचना है, जिसका केवल पूर्वार्द्ध अभी तक प्रकाशित हो सका है, किंतु उसके उतने ही अंश द्वारा भी कवि की प्रमुख प्रवृत्तियों का पता चल जाता है। इस प्रेम-कहानी के अन्तर्गत एक 'जिव कहानी खंड' नामक भाग है जिसमें कवि ने अपनी रचना की नायिका इन्द्रावति के एक प्रेम-पत्र के रूपमें एक विचित्र कथा रूपक को

सृष्टि कर डाली है और उसीके आधार पर अपने मूल सिद्धांतों को भी स्पष्ट कर दिया है। उसमें कवि कहता है कि मानव शरीर में जीव राजा है जिसके पुत्र का नाम मन है। इस शरीरपुर के ही अर्द्ध भाग में 'दुर्जन' नाम का एक दूसरा नृप भी है। मन राजकुमार रूप सौंदर्य का बहुत बड़ा प्रेमी है जिसे संतुष्ट करने के लिए जीव 'दुर्जन' से परामर्श करता है। दुर्जन उसे 'रूपवंती' का पता देता है जो 'कायापुर' के 'दरसन' राजा की कन्या है और जिसके निकट मन का संदेश 'दिष्ट' नामक दूत के द्वारा पहले भेजा जाता है। रूपवंती 'दिष्ट' के भौतिक रूप में पहुँचने के कारण प्रस्ताव स्वीकार नहीं करती जिससे चिढ़कर जीव राजा 'कायापुर' पर चढ़ाई कर देता है। परंतु यह संघर्ष होने नही पाता क्योंकि जीव पहले 'बुद्ध' नामक दूत को 'रूपवंती' का भेद लेने के लिए भेज देता है और उसके द्वारा जान लेता है कि वह सदा अत्यंत सघन आवरण के भीतर रहा करती है और उसके निकट पवन तक का संचार नहीं होता। इस कारण जीव लौट आता है और उसके दूत 'बुद्ध' और 'बूझ' 'रूपवंती' के यहाँ आते-जाते रहते हे। 'रूपवंती' एक बार 'फुलवारी' में आयी रहती है जहाँ से उसकी चेरी 'कटाच्छ' उसे मन के यहाँ 'चितवन' को भेजने का परामर्श देती है। 'चितवन' के कारण मन का प्रेम और भी अधिक बढ़ जाता है और वह केवल 'लाज' के ही समझाने-बुझाने से धैर्य धारण कर पाता है। परंतु 'दुर्जन' फिर मनको बहका देता है और वह बिना अपने पिता जीव की आज्ञा के 'कायापुर' चला जाता है। वहाँ पर रूपवंती की गली में वह, रात के समय, अपने सेवक 'साहस' के परामर्श से, 'चितवन' से अपनी व्यथा कह सुनाता है जिसे जानकर रूपवंती और भी चिढ़ जाती है और वह मन की ओर से तटस्थ बन जाती है। ऐसी दशा में मन कुछ निराश तक होने लगता है और फिर 'प्रीत' नाम की एक स्त्री को दूती बनाकर रूपवंती के पास भेजता है जो वहाँ उसकी चेरी बनकर रहने लगती है। एक दिन रूपवंती की गली से होकर जब मन निकलता है तो 'प्रीत' उसे रूपवंती को दिखला देती है और उसके प्रेमजन्य कष्टों का हाल कहकर

उसके प्रति उसकी सहानुभूति जागृत करती है। रूपवंती मन की वास्तविक दशा का परिचय पाकर द्रवित हो जाती है और फिर दोनों आपस में मिलते हैं। राजा 'दरसन' भी 'प्रीत' के ही प्रयत्नों द्वारा उन दोनों में विवाह संबंध स्थापित कर देता है और दोनों 'शरीरपुर' में चले आते हैं। मन एवं रूपवंती को यहाँ पर 'सुत और सुता' की उत्पत्ति होती है जिन पर रीझकर जीव अपने राज-काज में जी नहीं लगाता। फलतः दुर्जन का प्रभाव फिर एक बार बढ़ जाता है और उसका दूत 'बुद्ध', 'साहस' तपी के पास जाकर जीव के उद्धार के विषय में परामर्श करता है। तदनुसार 'बुद्ध', और 'साहस' दोनों 'प्रीतपुर' के राजा 'कीपा' के यहाँ जाते हैं जो अपने राजाधिराज 'सुखदाता' के साथ जीव से भेंट करता है और, अंत में, 'सुखदाता' दया करके जीव को फिर से शरीरपुर का राजा बना देता है।

नूर मुहम्मद ने इस कहानी के विविध पात्रों द्वारा यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि जीव को किस प्रकार अपने ही मन के कारण अनेक प्रपंचों में पड़ जाना पड़ता है और, अंत में, प्रेम के साधन एवं परमात्मा की कृपा से उसका किस प्रकार उनसे उद्धार भी हो जाता है। इस आशय का स्पष्टीकरण फिर इस कवि ने एक दूसरी प्रेमगाथा 'अनुराग बाँसुरी' (रचनाकाल सं० १८२१) द्वारा भी किया है। यहाँ पर उसने मन का नाम 'अंतःकरण' रखा है और उसके तीन साथी 'बुद्धि','चित्त' एवं 'अहंकार' की भी चर्चा की है। 'अंतःकरण' यहाँ पर पहले अपनी विवाहिता पत्नी 'महामोहिनी' के प्रति अनुरक्त रहता है, किंतु 'स्नेहनगर' के राजा 'दर्शनराय' की रूपवती कन्या 'सर्वमंगला' की प्रशंसा सुनकर वह फिर उसे चाहने लगता है और 'स्नेह-गुरु' नामक वैरागी से 'उपदेशी' नाम का सुवा पाकर उसके साथ स्नेहनगर की ओर चल पड़ता है। 'अंतःकरण' मार्ग में पड़ने वाले आकर्षक 'इंद्रियपुर' में भी ठहरता है और कई बसेरे करता हुआ 'स्नेहनगर' पहुँच जाता है। स्नेहनगर में वह पहले 'ध्यानदेहरा' में बैठकर ध्यान लगाता है और उधर सर्वमंगला को स्वप्न हो जाता है कि एक वैरागी मेरी मूर्ति की पूजा कर रहा

है। 'उपदेशी' फिर जाकर 'सर्वमंगला' से 'अंतःकरण' की प्रेम-साधना का परिचय देता है और वह अंतःकरण का चित्र बनवाकर उसे देखती है। फिर दोनों में पत्र-व्यवहार चलता है। अंत में क्रमशः दोनों की चार आंखें होती हैं और सर्वमंगला अपनी माला अंतःकरण के पास भेज देती है। उधर अंतःकरण के पिता जीव उसका पता न पाकर 'दर्शनराय' को पत्र लिखते हैं और दर्शनराय दोनों प्रेमियों का विवाह करा देते हैं। इस प्रकार जिस 'जीव कहानी' को नूर मुहम्मद ने अपनी 'इन्द्रावती' में स्थान दिया था उसीको उन्होंने 'अनुराग बांसुरी' में अधिक स्पष्ट कर दिया है। दोनों में प्रधान अंतर यह लक्षित होता है कि जीव कहानी में जहाँ प्रेम के इस विषय की चर्चा प्रसंगवश की गई थी वहाँ 'अनुराग बाँसुरी' में वह, सूफ़ी-सिद्धांतों के अनुसार प्रत्येक बात को संभालकर प्रदर्शित कर दिया गया जिस कारण यह रचना भी एक धर्मग्रंथ-सी बन गई। सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथा-रचना का प्रमुख उद्देश्य 'नाम कमाना' और उसके साथ साथ मोक्ष भी पा जाना रहा करता था। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बाँसुरी' द्वारा न केवल अपने मोक्ष का साधन तैयार किया अपितु इस्लाम धर्म के प्रचार का भी एक मार्ग निकाल दिया।

नूर मुहम्मद इस्लाम-धर्म के शिया-संप्रदाय के अनुयायी थे इस कारण सभी बातें उन्होंने उसी दृष्टिकोण से बतलायीं। जीव, उसके पुत्र स्वरूपी अंतःकरण तथा अन्य ऐसे कई पात्रोंका वर्णन उन्होंने स्पष्ट रूप में कर दिया, किंतु कुछ पात्रों को रहस्यमय ही रखा। 'दर्शनराय', 'सर्वमंगला', 'स्नेहगुरु', 'उपदेशी' जैसे पात्रों को उन्होंने हमारे सामने खुलकर नहीं आने दिया। फिर भी कुछ प्रयत्न करने पर इन पात्रों का भी कुछ न कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है और विदित हो जाता है कि ये उनके 'मज़हबी उसूलों' के परिचायक हैं। दर्शनराय तथा सर्वमंगला का संबंध पिता एवं पुत्री का दिखलाया गया है और पुत्री को सब का लक्ष्य बना दिया गया है जिससे प्रतीत होता है कि 'दर्शन राय' स्वयं जगन्नियंता परमात्मा का प्रतीक है जो 'नूर' वा प्रकाश के रूप में अवस्थित है और 'सर्वमंगला' उसकी वह अनुराग भरी कृपा-दृष्टि है जिसकी

प्राप्ति के लिए सभी प्रयत्न किया करते हैं तथा जो इस कारण सर्वतोभावेन कल्याणमयी है । नूर मुहम्मद के अनुसार यह पुत्री उस परमेश्वर की वह गुप्त विद्या भी हो सकती है जिसका पता सब किसी को नही लग पाता। उसके ज्ञाता हज़रत मुहम्मद थे जिनके प्रतीक यहाँ पर 'स्नेहगुरु' हो सकते है। उस दशा में 'उपदेशी' को यहाँ पर उनके जामाता अली का प्रतिनिधि मानना पड़ेगा जो 'सुवा' के रूप में अंतःकरण का मार्ग प्रदर्शन करता है। शिया लोगों के इस विशिष्ट दृष्टिकोण से न देखने पर 'स्नेहगुरु' उस अत्यंत वृद्ध हज़रत खिज्र के प्रतिरूप हो जाते हैं जो, इस्लाम धर्म की परंपरा के अनुसार सर्वत्र घूमते-फिरते रहा करते हैं और संकट में पड़े हुए धार्मिक व्यक्तियोंको उचित परामर्श भी दे दिया करते है । वैसी दशा में 'उपदेशी' कोई भी हो सकता है जो उन साधकों का मार्ग-प्रदर्शन करने में समर्थ हो। नूर मुहम्मद ने इस रचना के अंतर्गत जीवराजा की राजधानी का नाम 'मूरति पुर' दिया है और अंतःकरण को साधना उमसे 'दवहरा' मे करायी है। किंतु इस प्रकार का नामकरण उनकी हिंदू धर्म के प्रति किसी निष्ठा के कारण नही है। हिंदू भावनाओं की आड़ में यहाँ पर इस्लाम धर्म की बातें कही गई है ।

अन्य सूफ़ी कवियों ने जहाँ पर, प्रेम-साधना का परिचय दिलाने के लिए, ऐतिहासिक वा काल्पनिक सशरीरी प्रेमियों मे काम लिया था और कभी-कभी कथा के अंत में, इसका स्पष्टीकरण भी किया था वहाँ नूर मुहम्मद ने अपनी प्रेम-कहानी के सभी पात्रों की कल्पना इस प्रकार से कर डाली जिससे वास्तविक अभिप्राय आपसे आप खुलता जाय। इसके लिए उन्होंने न केवल प्रेम-साधना के विभिन्न क्रमों का यथावत् निर्देश किया अपितु पात्रों के नाम भी उन्होंने इसी प्रकार के रखे जिनसे उनके कथनीय विषय का रहस्य स्पष्ट होता गया। अन्य सूफ़ी कवि किसी लौकिक प्रेमकथा का वर्णन करके उसे प्रेम-साधना की पद्धति पर घटाने का प्रयत्न करते थे और उसे अलौकिकता का रूप दे देते थे। जायसी ने अपनी 'पदुमावति' में मानव शरीर को चित्तौर-

गढ़, मन को राजा रतनसेन, हृदय को सिंहल द्वीप, आदि ठहराया था और उसके अंत में, इसीके अनुसार सभी बातें घटाकर दिखलाने का प्रयत्न किया था। किंतु पूरी कथा में सर्वत्र ठीक-ठीक मेल बैठता नहीं था। नूर मुहम्मद ने इस प्रकार की वर्णन-प्रणाली में परिवर्तन लाकर उसे और भी अधिक स्पष्ट करना चाहा। परंतु यहाँ पर एक अन्य प्रकार की कठिनाई आ उपस्थित हुई और कोरे भावमूलक पात्रों के आधार पर निर्मित किये गये ढाँचे का रूप और भी रहस्यमय बन गया; न तो ऐसी कथा में किसी लौकिक प्रेम कहानी की सरसता आ सकी और न अलौकिक प्रेम ही भली-भाँति निखर सका।

हिंदी के सूफ़ी कवियों में कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने फुटकर काव्य रचना द्वारा प्रेम के विषय का वर्णन किया। रीति-काल का आरंभ होने के बहुत पहले अमीर खुसरो (सं० १३१२—१३८१) ने कुछ ऐसे पद्य लिखे थे जिनमें दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति थी। विवाह का रूपक बाँधकर उन्होंने आत्मा एवं परमात्मा के संबध को पत्नी और पति के प्रेम-भाव द्वारा प्रदर्शित किया था और दोनों के पारस्परिक मिलन का वर्णन भी उसीके अनुकूल शब्दों द्वारा किया था। एक दोहे में वे कहते हैं—

खुसरू रैन सोहाग की, जागी पीके संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग॥[1]

फिर इसी प्रकार जायसी ने भी अपनी 'आखिरी क़लाम' नामक रचना में 'उम्मत' के आखिरी दिन को 'दुलहिन दूलह' का मिलन कराया था और 'अखरावट' की अनेक पंक्तियों द्वारा प्रेम एवं विरह की व्याख्या की थी। इसके सिवाय शेख़ फ़रीद (मृ० सं० १६१०) ने भी 'भक्ति-काल' में उसी प्रकार दाम्पत्य भाव के बहुत से रूपक बाँधे थे और विरहिणी के विरह का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया था। इन कवियों के पीछे फिर रीति-

---

[1] 'सूफ़ी काव्य संग्रह' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० २०३

काल में भी अनेक ऐसे सूफ़ियों की फुटकर पंक्तियाँ मिलती हैं जिनमें इस प्रकार के उल्लेख किये गये है। रीति-काल के एक सूफ़ी कवि 'पेमी' नाम के थे जो बादशाह औरंगजेब के समकालीन थे। उन्होंने ईश्वरीय प्रेम के विषय को लेकर बहुत से पद्य लिखे थे जो बहुत सुंदर और सरस हैं तथा जिनसे उनकी प्रेमानुभूति का अच्छा परिचय भी मिलता है। उनका एक दोहा इस प्रकार है—

मन पारा तनकी खरी, ध्यान ग्यान रसमोय।
बिरह अगन सूं फूंक दै, निरमल कुंवन होय।।[1]

अर्थात् यदि तुम अपने मन को शुद्ध, मल रहित एवं निर्विकार कर देना चाहते हो तो तुम्हें चाहिए कि जिस प्रकार रासायनिक क्रिया द्वारा पारा का शोधन किया जाता है उसी प्रकार अपने शरीर की राख को ध्यान एवं ज्ञान के रस में सानकर उसके साथ इसे विरह की आग में फूक दो जिससे यह खरा बन जाय।

---

[1] 'सूफ़ी काव्य संग्रह' (हि० सा० स०, प्रयाग) पृ० २१६

८. आधुनिक काल का 'भारतेन्दुयुगीन' काव्य

हिंदी-काव्य के इतिहास का रीति-काल स्थूलतः विक्रम की १९वीं शताब्दी के अंत तक वर्त्तमान रहा। फिर उसके अनंतर आधुनिक काल का आरंभ हुआ जो उससे कई बातों में भिन्न समझा जा सकता है। भक्ति-काल में जिस अलौकिक प्रेम के उदाहरणों का बाहुल्य था उसका रीति-काल के अंतर्गत प्रायः अभाव-सा दीखने लगा था। उसमें न केवल कुछ हल्कापन आ गया था, अपितु उसका अधिकतर वह रूप ही प्रचलित होने लगा था जिसमें प्रदर्शन का अंश अधिक मात्रा में विद्यमान था। वह फिर से अपने लौकिक रूप में क्रमशः परिणत भी होता जा रहा था। उसके अलौकिक प्रेमास्पद कृष्ण एवं राधा अब साधारण नायक एवं नायिका के रूप में दीख पड़ने लगे थे और उनकी विविध लीलाएं अब केवल दृष्टांतवत् प्रतीत होने लगी थी। भक्ति-काल में इनके ऊपर एक प्रकार के दिव्यत्व का घना आवरण पड़ा रहता था जो समय पाकर बहुत झीना हो गया और वह अब उतना भी पतला नहीं रह सका जितना विद्यापति के समय में कभी वह पौराणिकता के पर्दे के रूप में दीख पड़ता था। विद्यापति के पदों में संगीत का सहयोग रहा करता था जो एक भक्त हृदय के लिए भी अनुकूल था, किंतु रीति-कालीन कवियों की छन्दोबद्ध रचनाओं का संबंध अधिकतर मस्तिष्क के साथ रहने लगा जिसने उसके झंझरापन को और भी स्पष्ट कर दिया। अंत में जब आधुनिक काल का प्रारंभ हुआ और बुद्धिवाद की जिज्ञासा जागृत हुई तो उक्त रहा-सहा व्यवधान भी निरर्थक हो गया।

रीति-काल का प्रारंभ होन के पहले से ही भारत में योरप के निवासियों के पैर जमने लगे थे। इसका अंत हो जाने पर, सं० १९१४ के विद्रोह के

अनंतर, अंग्रेजों का शासन यहाँ पर सुदृढ़ हो गया और जो कुछ प्रभाव तब तक पड़ने लगे थे वे और भी स्पष्ट हो चले। योरप में पाश्चात्य संस्कृति की उस समय तक कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं घट चुकी थीं जिनसे वहाँ का साहित्य प्रभावित हो रहा था। नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण नये-नये यंत्रों का आविष्कार हो चुका था जिनके बलपर वहाँ के व्यावसायिक क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न हो गई थी और इसके कारण वहाँ की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विचारधाराओं में उथल-पुथल-सी मच रही थी। योरपीय साहित्य में ये सभी बातें प्रतिबिम्बित होती दीख पड़ती थीं और सर्व साधारण तक के मानसिक क्षितिज को, किसी न किसी रूप में, विस्तार देती जा रही थी। रीति-काल एवं आधुनिक काल के संधि समय में ही चार्ल्स डार्विन (सं० १८६६-१९३९) के विकासवाद का प्रचार आरंभ हुआ जिसके अनुसार मानव जाति वस्तुतः, एकही मूलतत्त्व से उत्तरोत्तर वृक्षादि एवं जीव जंतुओं के रूपों में विकसित होते गए, प्राणी के सिवाय और कुछ नहीं है। इस सिद्धांत के आधार पर ही मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास का भी अध्ययन किया गया और सिद्ध किया जाने लगा कि उसके उच्च से उच्च स्तर के मानवीय गुणों के भी मूलरूप उसकी प्राचीन बर्बर दशा में वर्त्तमान थे। 'आहार निद्रा भय मैथुनादि' के विचार से तो वह पशुओं के समान समझा ही जा रहा था, इस बात का निरूपण वैज्ञानिक ढंग से भी किया गया और इसके साथ यह भी प्रतिपादित किया गया कि उसके दया दाक्षिण्यादि धार्मिक गुण भी तत्त्वतः विकास के ही परिणाम हैं।

प्राणिशास्त्र के वैज्ञानिकों ने यह सिद्धांत भी निश्चित किया कि प्रत्येक प्राणी के विकास की मूल प्रेरणा उसे उन दो प्रवृत्तियों से मिलती है जो उसे आत्मरक्षा एवं संतान-वृद्धि के लिए स्वभावतः प्रेरित करती रहती हैं। वह अपने वंश एवं जाति के विस्तार के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है और उसकी तथा अपनी रक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठन और व्यवस्था किया करता है। मानव जाति ने आज तक जो भी किया है वह मूलतः

इन्हीं दो पर आश्रित है और ये ही दो उसकी संस्कृति, और सभ्यता के भी आधार है। फलतः प्रेम को भी इन विद्वानों ने उस मूल प्रवृत्ति का ही एक विकसित रूप ठहराया जो संतान-वृद्धि की प्रेरणा के लिए कामवासना बन कर काम करती है और जो, इसी कारण, सारी सृष्टि का भी कारण कहला सकती है। 'ऋग्वेद' के प्रसिद्ध 'नारदीय सूक्त' के चौथे मन्त्र में जो कहा गया था,

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषः॥[1]

अर्थात् सृष्टि के पूर्व में वह मन से उत्पन्न होने वाले 'काम' के ही रूप में सर्वत्र विद्यमान था और वही इस जगत् का सर्वप्रथम बीज था; तत्वज्ञानी लोग अपने हृदय में पुनः-पुनः विचार करके 'असत्' में ही 'सत' की विद्यमानता निरूपित करते हैं, उसका प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से, और जीवविद्या (Biology) के सिद्धांतानुसार, कर दिया गया। 'ऋग्वेद' का 'काम' शब्द शुद्ध 'कामना' का द्योतक समझा जाता था और वह सृष्टि-कर्त्ता की 'इच्छा' का भी बोधक माना जाता था। किन्तु वैज्ञानिकों के इस 'काम' में संभोग (Copulation) की प्रवृत्ति भी सम्मिलित थी और इसके मूलस्रोत का पता वे स्त्री पुरुष के संबंध (Sexual relation) में से ढूढकर निकालना चाहते थे।

जीवविद्या के पंडितों के इस सिद्धांत का समर्थन फिर मनोविज्ञान के आधार पर भी किया जाने लगा। आधुनिक काल के डाक्टर सिगमंड फ्रायड (सं० १९१३—१९९६) ने अपने मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis) के नियमों द्वारा भी इसकी पुष्टि कर दी। उन्होंने इस बात को कई प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया कि अनेक रोगों का मूल कारण कामुकता (Libido) की प्रवृत्ति के बलपूर्वक निरोध में ही पाया जा सकता है और जीवन में इसक

---

[1] **'ऋग्वेद' (अष्टक १० सूक्त १२९ मंत्र ४)**

बहुत बड़ा महत्त्व है। फिर भी इस विषय के विशेषज्ञों ने, सारी बातों पर विचार करके, इस प्रकार के कथन में अपना संशोधन उपस्थित किया है। उनके अनुसार कामुकता ही सभी कुछ नही है। यह केवल जननेन्द्रिय की भोगलिप्सा को सूचित करती है जो किसी प्राणी के शरीर की एकांगिनी वा स्थानीय (Local) आवश्यकता मात्र है। यह उसी प्रकार की इच्छा है जो विविध सुस्वादु वस्तुओं के लिए बुभुक्षा (Appetite) का रूप ग्रहण कर लेती है और केवल पेट की तृप्ति चाहती है। वास्तविक भूख वा क्षुधा सारे शरीर की आवश्यकता को सूचित करती है और वह इसके स्थायित्व की अभिलाषिणी है। प्रेम भी, इसी प्रकार, उस व्यापक प्रवृत्ति का परिचायक है जिसका संबंध सारे शरीर (प्रत्युत संपूर्ण जीवन) के साथ है और जो, उसके भीतर किसी कमी का अनुभव होने पर ही, पूर्ण तृप्ति के प्रयत्नों का शिलाधार बनकर प्रकट होता है।[१] वास्तविक प्रेम केवल जननेन्द्रिय की तृप्ति नही चाहता और न केवल उसकी ही किसी कमी का पूरक उपलब्ध करना चाहता है। उसकी उत्पत्ति प्राय: रूप सौदर्य, स्वर-माधुर्य आदि के कारण देखी जाती है जो क्रमश. दर्शन, श्रवण आदि वाली इंद्रियों के विषय है। उसमें न केवल सभी इंद्रियां अपनी-अपनी तृप्ति चाहती है, अपितु सबका सूत्रधार मन (प्रत्युत आत्मा) तक इसके रंग में पूर्णत: रँग जाया करता है। अतएव प्रेम एवं निरे 'काम' में महान् अंतर है और दोनों को एक एवं अभिन्न मान बैठना अत्यंत भ्रमात्मक समझा जा सकता है।

ऐसे प्रेम की परिधि के भीतर उसके उन सभी भेदों और उपभेदों को स्थान मिल सकता है जो प्रेम-साहित्य में बतलाये गये है। योरपीय भाषाओं के ग्रंथों में, स्त्री-पुरुष संबंधी प्रेम के अतिरिक्त, जिस अन्य प्रकार के स्नेह

---

[१] डा० जेकब सूटर 'साइकॉलोजी ऑफ सेक्स' (मेडिकल बुक कम्पनी, कलकत्ता), पृ० ५१-३

की चर्चा की गई मिलती है उसे कभी-कभी अफलातूनी इश्क (Platonic love) की सज्ञा दी जाती है। यह शब्द उस विशुद्ध और व्यापक प्रेम का सूचक है जिसमे किसी भी एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति प्रदर्शित प्रेम अथवा भक्त की भगवान् के प्रति भक्ति (Devotion) भी सम्मिलित है। इसी प्रेम के अतर्गत लोग उस अनुराग को भी स्थान देते है जो स्वदेश प्रेम (Patriotism) के नाम मे प्रसिद्ध है और जिसके अनेक उदाहरण, वहाँ के काव्य-ग्रथो मे मिलते हैं। ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ईसामसीह ने परमेश्वर को अपने पिता के रूप मे देखा था और, अपने को उसका पुत्र मानते हुए, उसके प्रति प्रगाढ स्नेह एव श्रद्धा का भाव प्रदर्शित किया था। इस प्रकार के प्रेम तथा दो मित्रो के पारस्परिक सौहार्द की भी गणना उक्त अफलातूनी इश्क मे ही की जाती है जिस कारण, वहाँ के साहित्यानुसार 'लौकिक प्रेम' एव 'अलौकिक प्रेम' वाला वर्गीकरण उपयुक्त नही ठहरता। वहाँ की विचारधारा उसे 'स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम' तथा, उसके अतिरिक्त 'अन्य प्रकार का प्रेम' के दो वर्गो मे विभाजित करती हुई जान पडती है।

आधुनिक काल के पूर्व योरप देश मे कई राज्य क्रातियाँ भी हुई थी जिसके कारण वहाँ स्वतन्त्रता का भाव जागृत हुआ था। अमेरिकन स्वातन्त्र्य सग्राम के अनतर फ्रास की राज्य क्राति हुई और इटली, नीदरलैण्ड, जर्मनी आदि मे भी राष्ट्रीय भावना ने काम किया। फलत वहा का प्रत्येक देश अपने को दूसरे के भिन्न मानने लगा और अपने निजी सगठन और विकास की ओर उन्मुख हो गया। दूसरे के शासन वा प्रभुत्वजन्य प्रभाव को अपने ऊपर स्वीकार न करने की प्रवृत्ति बडे वेग के साथ बढ चली जिसका एक परिणाम यह भी हुआ कि सामाजिक क्षेत्र मे भी ऊँच-नीच का भाव क्रमश. लोप होने लगा। तदनुसार वहाँ की नारियो ने पुरुषो के समान अपना भी अधिकार प्राप्त करने का एक प्रबल आदोलन खडा किया। वे अपने को प्रत्येक क्षेत्र मे पुरुषो के समकक्ष सिद्ध करने के प्रयत्न मे लग गई जिस कारण प्रतिस्पर्धा के भाव ने उनके परपरागत सबध की भावना मे कुछ परिवर्तन

ला दिया। वहाँ के पति एवं पत्नी के बीच का वह रहस्यमय (Romantic) पर्दा हट गया जो दाम्पत्य प्रेम को सदा सरस एवं गंभीर बनाये रहता है और जिसके कारण उत्पन्न परोक्ष की भावना एक को दूसरे के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट करने में निरत रखती है। इस प्रकार एक ओर जहाँ उपर्युक्त क्रांतियों ने स्वदेशानुराग को प्रेरणा दी वहाँ दूसरी ओर उनके कारण दाम्पत्य प्रेम में ह्रास आ गया।

योरप की इन सभी नवीन प्रवृत्तियों ने भारतीय समाज को न्यूनाधिक प्रभावित किया। इनके कारण यहाँ के शिक्षित वर्ग के दृष्टिकोण में महान् अंतर आ गया और वे प्रत्येक प्रश्न को एक नवीन ढंग से देखने लगे। अंग्रेजों के विदेशी शासन से अपने को मुक्त कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना और साथ ही अपने को अन्य उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में भी लाना उनका ध्येय हो चला और इस प्रकार की भावनाओं का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में भी दीख पड़ने लगा। देश के अन्तर्गत अनेक आंदोलन चल पड़े, कई भिन्न-भिन्न संस्थाएं स्थापित हो गई और प्रत्येक प्रांतीय भाषा में इसके अनुकूल रचनाओं का निर्माण होने लगा। तदनुसार हिन्दी-काव्य में भी इस प्रकार की राष्ट्रीयता के अनेक उदाहरण दिखालायी पड़े। हिन्दी-कवियों ने भारत के अतीत गौरव का स्मरण दिलाया, उसके विपरीत लक्षित होनेवाले वर्त्तमान प्रसंगों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया और उन्हें भविष्य के लिए सतर्क भी बनाया। इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करते समय इन कवियों को यह भी बतलाना पड़ा कि जन्मभूमि के प्रति हमारा कर्त्तव्य ठीक उसी प्रकार का होना चाहिए जैसा अपनी जननी के प्रति हुआ करता है और इसके अभ्युदयार्थ हमें अपना अन्य सभी कुछ उत्सर्ग कर देना चाहिए। देश, जाति एवं धर्म के नाम पर मर मिटनेवाले वीरों का गुणगान, इस काल के प्रारंभिक दिनों के लिए, सर्व प्रधान विषय-सा बन गया।

आधुनिक काल के ऐसे प्रमुख कवियों में सर्वप्रथम नाम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७—१९४२) का आता है। भारतेन्दु, वास्तव

मे, संधिकाल के कवि थे जिनकी रचनाओ मे उपर्युक्त नवीन प्रवृत्तियो के साथ-साथ पुरानी बातो के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा मे मिलते है। ये साप्रदायिकता की दृष्टि से वैष्णव भक्तो की श्रेणी मे गिने जाते थे, किंतु स्वभाव से पूरे स्वच्छन्दतावादी थे। इन्होने भक्ति-काल के सूरदास, नन्ददास, आलम एव रसखान के समान कविताए की है और रीति-कालीन देव, घनानद, बोधा एव ठाकुर की भाँति भी लिखा है। ये एक रसिक जीव थे और अपने कथन मे सरसता एव तन्मयता लाने की कला मे सिद्धहस्त भी थे। परन्तु समय के अनुसार ये राजनीतिक एव सामाजिक सुधारो के भी पक्षपाती थे और पाखड एव बाह्याडबर की खरी आलोचना भी कर दिया करते थे। सीधे स्वदेश प्रेम के विषय पर इन्होने बहुत कम कविताए की है, किंतु भारत की दुर्दशा दिखलाते समय जो पक्तियाँ इन्होने लिखी है उनमे पता चलता है कि भारत के साथ इन्होने अपने हृदय को कितना तन्मय बना दिया था और उसके प्रति ये कितनी गहरी सहानुभूति रखते थे। 'भारत दुर्दशा' नाम से इन्होने एक 'नाट्य रासक' लिखा है जिसके आरभ मे ही ये किसी योगी द्वारा कहलाते है—

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥ध्रुव ॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो ॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो ॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥इत्यादि[1]

---

[1] **'भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ५९७**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अपने देश के प्रति वे पूर्ण आत्मीयता का अनुभव करते हैं और उसकी दयनीय दशा पर उन्हें मार्मिक कष्ट होता है। इस प्रकार की अनुभूति उस समय अपनी पराकाष्ठा तक पहुँची जान पड़ती है। जिस समय हम उस रचना के पात्र 'भारत भाग्य' के मुख से सुनते हैं—

हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहि मझारी॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो॥

× × ×

तुममें जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुरु कन्नौज-अंग अरु बंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
बोरहु भारत भूमि सबेरे।
मिटै करक जिय को तब मेरे॥इत्यादि[1]

भारतेंदु को भारत के अतीत गौरव के लिए बड़ा गर्व था और इसी कारण वे उसकी दुर्दशा देखकर विचलित और अधीर हो उठते थे। जो व्यक्ति बहुत अधिक प्रतापवान् होता है उसका अधःपतन उसके आत्मीय को उतना ही अधिक खलता है। वह उसकी बिगड़ी हुई दशा को देखकर स्वभावतः तिलमिला जाता है और इस दुर्दशा की जगह उसका अंत तक देखने का इच्छुक हो जाता है। भारत की प्राचीन महत्ता की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं 'भारत भाग्य' के ही मुख से एक स्थल पर कहलाया है—

---

१ 'भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ६३०-१

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद गान॥
तब मोहत सब नर नारि वृन्द।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥

× × ×

इनही के कोप किये प्रकास।
काँपत सब भूमंडल अकास॥
इनही के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर॥
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनही कहँ हो जग तृन समान॥
सुनिके रन बाजन खेत माँहि।
इनही कहँ हो जिय संक नाँहि॥'[१]

इन शब्दों मे प्रकट होता है कि कवि अपने पूर्वजों के गुण एवं शौर्य की एक-एक बात को स्मरण कर उसके लिए गहरी कसक का अनुभव करता है। इनमें प्रयुक्त 'ये' तथा 'इनही' शब्दों द्वारा कवि की आत्मीयता और भी स्पष्ट हो जाती है।

भारतेन्दु की कविता में उपर्युक्त अन्य नवीन प्रवृत्तियों का प्राय: अभाव-सा ही दीखता है। इनके ऊपर भक्ति एवं शृंगार का रंग बहुत अधिक चढा हुआ था और इनकी रसिकता इन्हें सदा अपने अनुकूल भावों में ही मग्न किये रहती थी। अतएव, प्रेमभाव के प्रदर्शन में इन्होंने परंपरागत शैली के अनुसार, बड़ी सुन्दर पंक्तियों की रचना की है। जहाँ कहीं भी इसका समावेश हो पाया है इन्होंने अपने हृदयगत भावों को उपयुक्त शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया है और उसमें कुछ न कुछ माधुर्य भी उत्पन्न

[१] 'भारतेन्दु नाटकावली' (इं० प्रे० प्रयाग) पृ० ६३२-३

कर दिया है। फिर भी प्रेम का विशद वर्णन उनकी कई ऐसी रचनाओ मे ही मिलता है जिन्हे उन्होने केवल इसी उद्देश्य से लिखा है। 'प्रेम सरोवर' उनकी एक इसी प्रकार की रचना है जिसमें उन्होने प्रेम की महत्ता तथा उसकी परिभाषा आदि का परिचय दिया है। इसका आरभ करते समय ही वे, मानो मगलाचरण के रूप मे, इस प्रकार कहते है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन, 'प्रेम' वरन यह दोय॥१॥

फिर आगे लिखते है,

प्राननाथ के न्हान हित, धारि हृदय आनंद।
प्रेम सरोवर यह रचत, रुचि सों श्री हरिचन्द॥३॥
प्रेम सरोवर की लखी, उलटी गति जग माँहि।
जे डूबे तेई भले, तिरे तरे ते नाँहि॥११॥
जिन पाँवन सों चलत तुम, लोक वेद की गैल।
सो न पाँव या सर धरौ, जल ह्वै जैहै मैल॥१३॥
कबहुँ होत नहिं भ्रम निसा, इकरस सदा प्रकास।
चक्रवाक बिछुरत न जहँ, रमत एकरस रास॥१९॥[1]

और इसकी पूर्त्ति रसखान की 'प्रेमवाटिका' के कुछ दोहो से भी कर देते है।

इसी प्रकार 'प्रेममाधुरी' नामकी एक अन्य रचना मे उन्होने प्रेम-वर्णन के साथ-साथ साहित्यिक माधुर्य की भी अनोखी छटा दिखाई है। इसमे उनके हृदय की कोमलता, गहरी प्रेमानुभूति एव सफल वर्णन-शैली के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे मिलते है, जैसे,

रोकहिं जो तो अमंगल होय, औ प्रेम नसै जो कहै पिय जाइए।
जौ कहै जाहु न तौ प्रभुता, जौ कछू न कहै तौ सनेह नसाइए॥

---

[1] 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १०३-४

जो हरिचन्द कहूं तुमरे बिन, जीहू न तो यह क्यों पतिआइए।
तासों पयान समै तुमरे हम, का कहैं आपै हमें समझाइए ॥१५॥[1]
यह सँग मैं लागियै डोलैं सदा, बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै हरिचंद, तौ चाल प्रलै की सु ठानती हैं॥
बरुनी मैं थिरैं न झपैं उझपैं पल मैं न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥४३॥[2]
जिनके हित त्यागिकै लोक की लाजकों, संग ही संग मैं फेरो कियो।
हरिचंद जू त्यों मग आवत जात मैं, साथ घरी घरी घेरो कियो॥
जिनके हित मैं बदनाम भई तिन, नेकु कह्यो नहिं मेरो कियो।
हमें व्याकुल छाड़िकै हाय सखी, कोउ और के जाइ बसेरो कियो॥५२॥[3]

इनमें से प्रथम सवैया किसी संस्कृत श्लोक का अनुवाद समझा जाता है, किन्तु भारतेन्दु की कला निपुणता ने उसे सर्वथा मौलिक बना दिया है। इसमें प्रेम विवशता का चित्रण भिन्न-भिन्न प्रसंगों में लाकर किया गया है जो भारतेन्दु की एक विशेषता है।

भारतेन्दु के प्रेम का आदर्श उनकी 'चन्द्रावली' नाटिका में भले प्रकार से लक्षित होता है। उसमें नायिका चन्द्रावली का उसके नायक कृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम पूर्वानुराग के आधार पर व्यंजित किया गया है। पूर्वानुराग की दशा से वह विरह की स्थिति में पड़ जाती है और अंत में फिर दोनों का मिलन हो जाता है। नाटिका के पात्र पौराणिक हैं यद्यपि कथावस्तु का इतना विस्तृत रूप किसी पुराण वा अन्य ऐसे ग्रंथ में दीख नहीं पड़ता। भारतेन्दु ने इस रचना को श्रीकृष्ण को ही समर्पित किया है। 'समर्पण' में स्पष्ट कह दिया है, "इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।" कथावस्तु के अनुसार चन्द्रावली, अपनी

---

[1] 'भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० १४९
[2] वही, पृ० १५५ [3] वही, पृ० ४९४

सखियों के साथ वार्त्तालाप करती हुई, कृष्ण के प्रति अपने अनुराग को किसी न किसी ढंग से प्रकट कर देती है। फिर अगले अंक में वह विरह कातर होकर उन्माद में प्रलाप तक करने लगती है और कृष्ण के नाम 'एक पाती' भी लिखती है। तीसरे अंक में उसकी सखियाँ उसके कष्ट को प्रियतम से मिलाकर दूर कर देने के प्रयत्न में लगी दीखती है। चौथे अंक में कृष्ण स्वयं जोगिनी के वेष में उसके निकट आ जाते हैं और जिस समय वह गाते-गाते बेसुध होती रहती है, अपना भेष बदलकर उसे गले लगा लेते हैं। नाटिका श्रीकृष्ण के अनुग्रहपूर्वक मिलन का चित्रण करती है जो उनके भक्तों के आत्म-समर्पण और आत्मोत्सर्ग पर ही संभव है। चंद्रावली नायिका में कवि ने इन दोनों को बड़े सुन्दर ढंग से दिखलाया है और उसे एक पुष्टि मार्गी भक्त का आदर्श बना दिया है जो उसके उद्देश्यानुसार ठीक ही कहा जा सकता है। चंद्रावली का अनुराग दाम्पत्य प्रेम के ढंग का हो गया है और, इसी कारण, उसमें लोक-लज्जा एवं वंश-मर्यादा की रक्षा का प्रश्न उतना विकट नहीं है। वह कृष्ण की प्रेमिका, राधा की एक वैसी ही सखी है जैसी ललिता आदि हैं जिस कारण 'स्वामिनी' जी की आज्ञा मिलने में विलंब नहीं होता।

नाटिका में स्त्री पात्रों की ही प्रधानता है क्योंकि श्रीकृष्ण ही एक मात्र पुरुष हैं और सभी भक्त उनकी प्रेमिका के रूप में हैं। गोपी रूप में चन्द्रावली उनके प्रति परकीया बनकर ही आकृष्ट होती है, किंतु उसका अनुराग पूर्णतः स्वाभाविक-सा दीख पड़ता है। अपनी मनोदशा को वह अपनी सखियों के समक्ष पहले व्यक्त करना नहीं चाहती है और भीतर ही भीतर घुलती जाती है। परंतु जब सौंदर्यपूर्ण प्राकृतिक वातावरण तथा अपनी सखियों की रसात्मक बातचीत आदि से उसका गंभीर प्रेम क्रमशः विरह दशा की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है और वह अपने को खो तक बैठती है तो उस पर श्रीकृष्ण की कृपा होती है। चंद्रावली के प्रेम एवं विरह को तीव्रतर बनाने के लिए ही कवि ने उसके निकटवर्ती वृक्ष, लता, नदी आदि की

मनोहरता का चित्रण किया है और उसकी प्रेमानुभूति को उस कोटि तक पहुंचा दिया है जहाँ पर वह अपना परिचय अपने प्रियतम के रूप में देने लग जाती है। सुंदर प्राकृतिक दृश्यों के साथ-साथ मधुर संगीत का आयोजन भी इस रचना के अन्तर्गत यथास्थान किया गया मिलता है और इसकी वर्णन-शैली में काव्य का तत्व इतनी प्रचुर मात्रा में मिलता है कि इसे साधारण नाटकों की श्रेणी में रखना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में भारतेन्दु की 'श्री चन्द्रावली' नाटिका एक प्रेमाख्यान है और इसे हम भक्त नन्ददास की 'रूप मंजरी' की श्रेणी में भी रख सकते हैं। 'रूप मंजरी' के रचयिता ने जिस प्रकार उसे व्यक्तिगत उद्गारों के लिए आधार बनाया था उसी प्रकार भारतेन्दु ने भी यहाँ पर किया है और एक पौराणिक संकेत मात्र के व्याज से अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के रहस्यों का उद्घाटन कर दिया है।

भारतेन्दु एक प्रतिभाशाली कवि थे, और उनकी स्वाभाविक रसिकता के कारण, प्रेमभाव की अभिव्यक्ति में सजीवता आ जाती थी। उनके सम-कालीन व्यक्तियों में सिद्धहस्त लेखकों और कवियों की कमी नहीं थी किंतु उनमें से कोई भी उनकी कोटि तक नही पहुँच सका। उनका स्वदेश प्रेम अधिकतर हिंदू जाति के गौरवगान तथा उसके अधःपतन पर अश्रुपात तक ही सीमित रह जाता था और उनके लौकिक प्रेम सबंधी अन्य वर्णन एवं अलौकिक प्रेम-प्रदर्शन में भी प्रायः पूर्व प्रचलित पद्धतियों का ही अनुकरण रहा करता था। पाश्चात्य साहित्य में पायी जाने वाली आधु-निक प्रवृत्तियों के प्रभावों से वे बहुधा वंचित ही दीख पड़ते थे। वह समय भारतीय समाज के लिए वस्तुतः एक नवीन युग का अरुणोदय काल था जिसमें अभी तक लोग भलीभाँति सजग नहीं हो पाये थे। जागरण की वेला आ पहुँची थी, किंतु कवियों का वर्ग अभी तक अतीत गौरव का ही स्वप्न देख रहा था और उसके आदर्श पर जनता को उद्बोधित कर रहा था। अभी तक उनकी आंखों पर से पुरानी खुमारी का प्रभाव पूर्णतः नहीं उतर

पाया था और वह मानो पड़े-पड़े ही भैरवी की तान छेड़ रहा था। वह अभी तक अपने चारों ओर दीख पड़ने वाले संधि युगीन अंधकार के लिए प्रायः दैव को कोसा करता था और प्रकाश की क्षीणता में भविष्य की स्पष्ट रूप-रेखा निर्मित न कर सकने के कारण, अभी तक बहुत कुछ प्राचीन आदर्शों का ही समर्थक था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन कवियों की रचनाओं में इस प्रकार की बातें दिखलायी देने लगी थीं। उदाहरण के लिए बदरी नारायण चोधरी 'प्रेमघन' ने अपने देशवासियों के प्रति उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा था—

बीती जो भूलो उसको सँभलो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई बँध एक प्रेम धागे से।
आर्य वंश को करो एक अब द्वैतभेद बिसराओ।
मन वच कर्म एक हो वेद विदित आदर्श दिखाओ।
सत्य सनातनधर्म ध्वजा को निश्चिल गगन उड़ाओ।
श्रौत स्मार्त्त कर्म अनुशासन की दुन्दुभी बजाओ।
फूँको शंख अनन्य भक्त हरि ज्ञान प्रदीप जलाओ।
जगत प्रशंसित आर्य वंश जय जय की धूम मचाओ।[1]

पं० प्रताप नारायण मिश्र ने उन्हींके दारिद्रय की दशा पर आंसू बहाते हुए उनकी सहानुभूति में इस प्रकार लिखा था—

तब लखिहो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥

× × ×

जहां कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सबमाहीं।
देशिन को हित कछू तत्व कहुँ कैसहुँ नाहीं॥[2] इत्यादि

---

[1] **'महाकवि हरिऔध' (श्री गिरिजादत्त शुक्ल), पृ० १६२ पर उद्धृत**
[2] **वही**

'प्रेमघन' जी ने जन्म-भूमि-प्रेम के आधार पर 'जीर्ण जनपद' नामक एक प्रबन्ध काव्य भी लिखा था। दत्तापुर ग्राम उनके पूर्वजों का निवास-स्थान था और वहीं पर सं० १९१२ में उनका जन्म भी हुआ था। 'प्रेमघन' जी ने उस ग्राम के पूर्व गौरव की चर्चा करते हुए उसकी तत्कालीन दुर्दशा का भी वर्णन विस्तार के साथ किया है। 'जीर्ण जनपद' में ही वे प्रसंगवश लिखते हैं--

जन्मभूमि वह यदपि, तऊ सम्बन्ध न कछु अब।
अपनो बासो रह्यो, टूटि सो गयो कबै सब॥५५॥
और और ही ठौर भयो, अब तो गृह अपनो।
तऊ लखत मन किह् कारन, वाही को सपनो॥५६॥
धवल धाम अभिराम, रम्यथल सकल सुखाकर।
बसत, चहत मन वा सूनो गृह निरखन सादर॥५७॥
यदपि न वह तालुका रह्यो अपने अधिकारन।
तऊ मचलि मन समुझत तिहि निज ही किहि कारन॥५९॥
जन्मभूमि सों नेह और ममता जग जीवन।
दियो प्रकृति जिहि कबहुँ न कोउ करि सकत उलंघन॥६१॥
वह मनुष्य कहिबे के योग न कबहुँ नीच नर।
जन्मभूमि निज नेह नाहि जाके उर अन्तर॥६३॥
यदपि बस्यो संसार सुखद थल विविध लखाहीं।
जन्मभूमि की पै छवि मनतें बिसरत नाहीं॥६७॥[1]

'प्रेमघन' जी की इन पंक्तियों को पढ़कर गो० तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' की उन चौपाइयों का स्मरण हो सकता है जिन्हें उन्होंने श्रीरामचन्द्र के मुख से, सुग्रीवादि वानरों के प्रति, कहलाया है; जैसे,

---

[1] **'प्रेमघन सर्वस्व' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम भाग), पृ० ६-७**

यद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान विदित जग जाना।।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि।।[१]

किन्तु इन दोनों उक्तियों मे बहुत कुछ अन्तर भी दीख पड़ता है। गो० तुलसीदास का दृष्टिकोण केवल 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना को प्रकट करता है जहाँ 'प्रेमघन' जी उमी बात को, एक नैसर्गिक नियम का प्रमाण देकर, आधुनिक ढग से पुष्ट करते हुए, दीख पड़ते है। इस प्रकार के प्रेम में अलौकिकता का पुट लगाने की आवश्यकता नही और न इसके लिए अपने प्रेमास्पद को व्यक्तित्त्व प्रदान करना ही अनिवार्य है। इसकी व्यापकता भी केवल किसी स्थल विशेष तक ही सीमित न रहकर पूरे देश एवं राष्ट्र तक पहुँच सकती है। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी कवियों के ऐसे देश प्रेम के साथ राष्ट्रीयता का भाव भी मिला रहता था जो वस्तुतः आधुनिक युग मे ही संभव था। 'प्रेमघन' जी की ही एक अन्य कविता 'जातीय गीत' मे इस बात का उदाहरण इस प्रकार मिलता है—

जय जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।।

× × ×

धर्मसूर जित उयो, नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सों सबहि सुभानी।।

× × ×

कालहु सम अरि तृन समुझत जहँ के छत्री अभिमानी।
वीर वधू बुध जननि रहीं, लाखनि जित सखी सयानी।।

---

१ 'उत्तर कांड' (दोहा ४)

जाको अन्न खाय ऐंड़ति जग जाति अनेक अघानी।
जाकी सम्पत्ति लुटत हजारन बरसन हूँ न खोटानी।।

× × ×

प्रनमत तीस कोटि जन जाकँह अजहुँ जोरि जुगपानी।
जिनमें झलक एकता की लखि, जगमति सहमि सकानी।[1] इत्यादि

परंतु फिर भी उस काल के ऐसे कवि अपनी परतन्त्रता के विरुद्ध बहुत कम कहा करते थे और विदेशी शासन की दुहाई तक देते रहते थे ।

दाम्पत्य प्रेम एवं भक्ति के वर्णन में उस समय के कवि सदा प्राचीन परंपरा का ही अनुसरण करते रहे । भारतेन्दु की स्वाभाविक रसिकता ने उनमें कुछ स्वच्छन्दता ला दी थी और वे बहुधा नवीन ढंग से भी कह जाते थे । किंतु उनके समकालीन कवियों में इस प्रकार की विशेषता का प्रायः अभाव-सा था जिस कारण वे कुछ अधिक नहीं कर सके । प्रेमभाव की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने पूर्ववत् राधा एवं कृष्ण को ही आधार बनाया और अधिकतर उन्हें ही इष्ट भी माना । 'प्रेमघन' जी की 'प्रेमपीयूष वर्षा' में भी हमें इसी बात का उदाहरण मिलता है; जैसे,

दोउन के मुखचंद चितै, अँखियाँ दुनहून की होत चकोरी।
दोउ दुहूँ के दया के उपासी, दुहूँन की दोऊ करैं चित चोरी।।
यों घन प्रेम दोऊ घन प्रेम भरे बरसें रस रीति अथोरी।
मों मन मन्दिर में विहरैं, घनश्याम लिये वृषभान किशोरी।।[2]

'प्रेमघन' जी जहाँ 'प्रेमरस' वा 'प्रेमपीर' का परिचय देते हैं वहाँ पर भी वे पुरानी पद्धति के ही अनुसार लिखते हैं; जैसे,

कुटिल भौंह निरखीन जिन, लखी न मृदु मुसक्यानि।
सकहिं प्रेमघन प्रेमरस, ते कैसे अनुमानि।।१०३।।

---

[1] **'प्रेमघन सर्वस्व' (हि० सा० स० प्रयाग, प्रथम भाग) पृ० ६२९-३०**

[2] **वही, पृ० १९७**

बिंध्यो न उर जिनके कभौं, नैन सैन के तीर।
वे बपुरे कैसे सकें, जानि प्रेम की पीर।।१०४।।[१]

'प्रेमघन' जी की मृत्यु सं० १९८० में हुई जिसके बहुत पहले से ही संभवतः सं० १९५० तक, भारतेन्दु युग का समय व्यतीत हो चुका था। इस कारण उनका अंतिम जीवन-काल वस्तुतः द्विवेदी युग के भीतर समाप्त हुआ। भारतेन्दु युग में प्रेम के अलौकिक भाव की अभिव्यक्ति करने वाले संतों, भक्तों अथवा सूफ़ी कवियों में कोई उल्लेखनीय व्यक्ति नहीं दीख पड़ता। उस काल के लोगों का अधिक ध्यान सामाजिक सुधार और जातीय पुनरुत्थान की ओर आकृष्ट था। धार्मिक प्रवृत्तियों वाले महापुरुष वेदादि के पुनरुद्धार, अध्ययन और प्रचार में लगे थे और वे मंदिरों से अधिक व्याख्यान-मंच पर दीख पड़ते थे। कवियों के सामने उस समय अपने वर्ण्य विषय के इतने क्षेत्र खुलते जा रहे थे कि उन्हें भलीभाँति सँभाल पाने का उनको पूरा अवसर नहीं मिलता था और न वे कभी अपने मन को स्थिर कर शांतरस का स्वाद ले पाते थे। पहले का सा अलौकिक प्रेम, हिन्दी काव्य में, अभी आज तक भी देखने को नहीं मिला। जो कुछ दीख पड़ा वह केवल अपवाद स्वरूप रहा और उसमें भी उस गंभीरता एवं विशदता का अभाव था जो भक्ति-काल की रचनाओं में विशेष रूप से पायी गई थी।

---

[१] 'प्रेमघन सर्वस्व' (हिं० सा० स०, प्रयाग) प्रथम भाग, पृ० ३३८

६. आधुनिक काल का 'द्विवेदीयुगीन' काव्य

हिन्दी-काव्यधारा के आधुनिक काल का द्वितीय उत्थान 'द्विवेदी युग' में आकर लक्षित हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी (ज० सं० १९२१) ने इस काल के अनुरूप निर्माण-कार्य जितना स्वयं नहीं किया उससे कहीं अधिक करने में उन्होंने दूसरों को प्रेरणा दी। द्विवेदी जी के ही समय में रूस और जापान का युद्ध हुआ जिसमें एक छोटे-से द्वीप-समूह के राष्ट्रवादी नागरिकों ने एक विशाल अव्यस्थित देश की सेना को आश्चर्यजनक ढंग से पछाड़ दिया। फलतः राष्ट्रीयता के महत्त्व की ओर प्रायः सभी देशों का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा और भारत पर भी इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। भारत के निवासी अपने विदेशी शासकों को खुले रूप में शत्रु भाव के साथ देखने लगे और पारस्परिक आत्मीयता का अनुभव भी करने लगे। इस कारण, भारत के ब्रिटिश वायसराय लार्ड कर्जन द्वारा वंग-भंग किए जाते ही, सारे देश में राष्ट्रीयता की लहर फैल गई और 'वंदे मातरम्' जैसे गीतों का गान, विदेशी वस्तुओं का बॉयकाट तथा स्वदेशी का आंदोलन आरंभ हो गया। अपना और पराया का जो भाव पहले किसी वंश, जाति वा धर्म के आधार पर जागृत होता दीखता था वह भारत देश के नाम पर ही उत्पन्न हो गया और यहाँ के हिंदू, मुस्लिम, पारसी और ईसाई तक एक दूसरे को भाई समझने तथा अंग्रेजों को विदेशी आक्रामक ठहराने लगे। इस नवीन प्रवृत्ति को उस पुनरुत्थान संबंधी आंदोलन से भी बहुत बड़ी सहायता मिली जो सुधारकों के नेतृत्व में चल रहा था। भारतीयों को अपने अतीत गौरव के ज्ञान से पूरा बल मिला और वे अपने भीतर आत्म विश्वास का अनुभव करने लगे। जो लोग अपने को केवल विजित और

शासित समझा करते थे वे परतन्त्रता के जुए को एक बार फेंक देने के भी स्वप्न देखने लगे और यह बात उनके हृदय में क्रमश: घर करने लगी कि हमारा भविष्य हमारे पूर्ण ऐक्य एवं पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर है। द्विवेदी जी के समय में इस प्रकार के भाव सर्वत्र फैल रहे थे और हिंदी में उनकी अभिव्यक्ति के लिए केवल उनका संकेत मात्र ही पर्याप्त था।

द्विवेदी जी का प्रधान कार्य अपने समकालीन लेखकों एवं कवियों को, हिंदी भाषा को अपनाने और केवल उसीके माध्यम द्वारा अपने भावों को प्रकट करने के लिए, उत्साहित कर हिन्दो साहित्य को उन्नतिशील बना देना था। हिंदी कवियों ने उनके उक्त उद्देश्य की पूर्त्ति करते समय देश में प्रचलित विचारों को अपनी रचनाओं का विषय स्वभावत: बना लिया और अपने वातावरण के अनुकूल साहित्य का निर्माण करने की ओर वे प्रवृत्त हो गए। तदनुसार उस युग को हिंदो-काव्य में हमें अधिकतर ऐसे ही विषय मिलते है जिनका संबंध भारत भूमि के प्रति ममता, उसके महान् पुरुषों का गौरवगान, उसके लिए आत्मत्याग की भावना, उसकी वर्त्तमान दुरवस्था पर क्षोभ तथा उसके उज्वल भविष्य की रूप-रेखा से संबंध रखते है। ये बातें हमें किसी न किसी रूप में, भारतेन्दु युग के भी अन्तर्गत लक्षित हुई थीं। किंतु उस काल में प्रकट किए गए तत्संबंधो भाव उतने व्यापक और स्पष्ट नहीं थे और न उनके पोछे वैसी तीव्र प्रेरणा हो काम करती जान पड़ती थी। योरपीय महासमर के प्रभाव तथा महात्मा गांधो के नेतृत्व में चलाए गए विविध राष्ट्रीय आंदोलनों की प्रगति से उन्हें पूरी सहायता मिल गई और इस प्रकार का राष्ट्रीय साहित्य इस युग के कुछ काल पोछे तक निरंतर बनता ही चला गया। अंतर केवल इतना हो था कि इसके पिछले रूप में पहले वाले की अपेक्षा कहीं अधिक संघर्ष एवं विप्लव के भाव व्यक्त होते गए और कभी-कभी उसमें गांधीवाद का भी प्रवेश होता गया। द्विवेदो युग की राष्ट्रीयता में विद्रोह की भावना का अभाव नही है। उसमें केवल

सक्रियता नहीं है और न उतनी तीव्रता ही दीख पड़ती है। यदि इस युग की सीमा हम केवल सं० १९७५ तक ही निर्धारित करते हैं तो सं० १९७८ और सं० १९८७ के सत्याग्रह संग्राम इस काल के कुछ अनंतर पड़ जाते हैं और उनके प्रभावों द्वारा प्रतिबिम्बित हिंदी-काव्य को इसमें हम कोई स्थान नहीं दे पाते। परंतु जहाँ तक स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव का संबंध है द्विवेदी युग का हिंदी-काव्य इस पिछले काल के कोरे विप्लव गान से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। द्विवेदी युग में प्रायः उन सभी भावों का व्यक्तीकरण हुआ है जो देश-प्रेम वा देश-भक्ति के वास्तविक अंग समझे जाते हैं।

द्विवेदी युग के स्वदेश प्रेमी कवियों में सर्वप्रथम नाम पं० श्रीधर पाठक (ज० सं० १९१७) का लिया जा सकता है। पं० श्रीधर पाठक अंग्रेजी साहित्य द्वारा प्रभावित थे, प्राकृतिक सौंदर्यके उपासक थे और एक प्रेमी जीव भी थे। उन्होंने स्वदेश को गौरवपूर्ण और महान् की पदवी दी है और उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उसकी शुभ कामना की है। वे अपने एक गीत में कहते हैं—

जय जय प्यारा भारत देश ।।
जय जय प्यारा, जग से न्यारा
शोभित सारा, देश हमारा
जगत मुकुट, जगदीश दुलारा
जय सौभाग्य, सुदेश
जय जय प्यारा भारत देश ।।

× × ×

जग में कोटि कोटि जुग जीवै
जीवन सुलभ अमी रस पीवै
सुखद वितान सुकृत का सीवै

रहे स्वतंत्र हमेश
जय जय प्यारा भारतदेश ॥[1]

इसी प्रकार एक बार रोग शय्यापर पड़े हुए उन्होंने स्वदेश के विषय में लिखा था और अपना संदेश भेजा था——

निज स्वदेश ही एक सर्वपर ब्रह्मलोक है।
निज स्वदेश ही एक सर्ववर अमर ओक है।
निज स्वदेश विज्ञान ज्ञान आनंद धाम है।
निज स्वदेश ही भुवि त्रिलोक शोभाभिराम है।
सो निज स्वदेश का सर्वविधि प्रियवर आराधन करो।
अविरत सेवा सन्नद्ध हो सब विधि सुख साधन करो ॥[2]

पाठक जी स्वदेश के सुंदर प्राकृतिक दृश्यों के प्रति भी बहुत आकृष्ट रहा करते थे और अपनी स्वाभाविक सौंदर्य-रसिकता के कारण उन पर मुग्ध होकर काव्य-रचना करने लग जाते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने 'हिमालय' पर लिखा है——

उत्तर दिशि नगराज अटल छवि सहित बिराजत।
लसत स्वेत सिर मुकुट, झलक हिम सोभा भ्राजत।
× × ×
विलसत सो तिहुँ काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम।
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुंड सम।
× × ×
प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय।
श्रीधर दृग छकि रहत, अटल छवि निरखि हिमालय ॥[3]

---

[1] 'भारत-गीत' (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), पृ० १९-२१

[2] वही, पृ० ८४

[3] 'कविता-कुसुम-माला' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ४१-४

वे प्रायः पर्वतों एवं कुंजों तथा जंगलों में भ्रमण करना अधिक पसंद करते थे और उस पर लिखा करते थे। कश्मीर देश के मनोहर स्थलों की यात्रा करके उन्होंने 'काश्मीरी सुखमा' नामक एक लंबी कविता की रचना कर डाली है। वे उसमें कश्मीर प्रदेश के रम्य स्थानों का वर्णन करते हुए उनकी प्रशंसा भी करते जाते हैं और एक बार यहाँ तक कह उठते हैं—

यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुरकानन सुन्दर।
यहिं अमरन कौ ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥[1]

द्विवेदी युग के एक दूसरे कवि प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' हैं जो कभी-कभी 'त्रिशूल' उपनाम के साथ भी लिखा करते थे। 'सनेही' कवि के हृदय में भारत के प्रति आत्मीयता का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है और वे उसका निवासी होने में गर्व का भी अनुभव करते हैं। वे अपने एक 'जातीय गीत' में स्वदेशवासियों को उद्बोधित करते हुए एक स्थल पर कहते हैं—

तू भारत का, भारत तेरा, तेरा यहीं बसेरा।
जो कुछ है सब समझ इसीका, क्या मेरा क्या तेरा॥[2]

और अपनी 'स्वाभिमान और देशाभिमान' शीर्षक कविता में अन्यत्र इस प्रकार भी लिखते हैं—

वह है गुणी या निर्गुणी, वह रंक या श्रीमान है।
वह है निरक्षर भट्ट या उद्भट महा विद्वान है।
वह विप्र क्षत्रिय वैश्य है या शूद्र क्षुद्र अजान है।
वह शेख ही है याकि सय्यद, मुग़ल है कि पठान है।
जिसको न जिन गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर, पशु निरा है और मृतक समान है॥[3]

[1] **'काश्मीर सुखमा' (लीडर प्रेस, प्रयाग), पृ० ९**
[2] **'राष्ट्रीय वीणा' (प्रताप कार्यालय, कानपुर), १ भा० पृ० ४**
[3] **वही, पृ० २०**

परंतु 'सनेही' जी को अपने देश के अतीत गौरव के लुप्त हो जाने की बात सदैव खटकती रहती थी और वे उसका स्मरण दिलाते रहते थे। अपनी 'भारत सन्तान' नामक कविता के आरंभ में वे लिखते है—

जगत गुरु जगन्मुक्ति दातार, झुकाता था शिर सब संसार।
सभ्यता के आकर आधार, किया सम सबको हमने प्यार।
बढ़ाया अमरों में सम्मान, किया यों मनुज जाति उत्थान।
वही हम है भारत सन्तान, वही हम हैं भारत सन्तान।।[1]

इसी युग के एक अन्य कवि सत्यनारायण 'कविरत्न' भी थे जिनका देहात, अल्पकालीन वयस में ही सं० १९७५ में हो गया। ये भारत के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते समय उसके प्रेम में विह्वल हो जाते थे और अपनी भावुकता व्यक्त करने लग जाते थे। ये व्रजभाषा के आधुनिक सफल कवियो में गिने जाते है और उनमें इन्हे एक उच्च स्थान प्राप्त है। इनका एक गीत है—

हमारा प्यारा हिन्दुस्तान।
नयन का तारा हिन्दुस्तान।।
वोही रस घनश्याम की, स्वाति बूँद रस ऐन।
चाहे उसको ही विकल, हम पपिया दिन रैन।
चैन बस देवै उसका गान।।
वोही रस का सार है, निरमल नित्य नवीन।
प्रकृति मधुर सुन्दर सरल, हम है उसकी मीन।
दीन का वह जीवन धन प्रान।।[2]

इन्होने अपनी 'मेरी मातृभूमि' शीर्षक कविता में भारत के अतीत गौरव का गान किया है और साथ ही उसके स्वरूप का भी वर्णन किया है। ये

---

[1] **'त्रिशूल-तरंग' (प्रताप कार्यालय, कानपुर) पृ० १९**

[2] **'हृदय-तरंग' (नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा), पृ० ४१**

उसके प्रत्येक गुण पर मुग्ध हैं और उन्हें स्मरण करते हुए उसका परिचय बड़े गर्व के साथ देते हैं तथा उसे बार बार

वह मातृभूमि मेरी, वह पितृभूमि मेरी।[1]

कहते चले जाते हैं। कविरत्न जी एक कोमल हृदय के धार्मिक व्यक्ति थे और वे कभी-कभी भारत को अपने एक इष्टदेव की भाँति मानते हुए उसके प्रति नतमस्तक भी होते थे। उन्होंने अपनी 'शिव भारत' शीर्षक कविता में भारत के भौगोलिक रूप को शिव की मूर्ति के सदृश ठहराया है और उसके पर्वत, नदी, झील तथा भिन्न-भिन्न प्रदेशों को इसके प्रमुख अंगों का यथाक्रम प्रतीक मानते हुए इस देव-प्रतिमा से अपने लिए आनंद की याचना की है।[2]

इस युग के अन्य स्वदेश प्रेमी कवियों में देवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा जगन्नाथ 'जोशी' के भी नाम लिए जा सकते हैं। ये दोनों कवि भी धार्मिक विचारों के ही समर्थक जान पड़ते हैं और इन्होंने भी स्वदेश के प्रति भक्ति भाव ही दर्शाया है। 'पूर्ण' जी ने स्वदेशी वस्तुओं के अपनाने तथा उनका प्रचार करने के संबंध में भी कविता की थी और ऐसी ही एक रचना 'स्वदेशी कुण्डल' में लिखी थी,

पानी पीना देस का, खाना देशी अन्न।
निर्मल देशी रुधिर से नस नस हो सम्पन्न॥
नस नस हो सम्पन्न तुम्हारे उसी रुधिर से।
हृदय, यकृत, सर्वांग, नखों तक ले कर शिर से॥
यदि न देशहित किया, कहेंगे सब 'अभिमानी'।
शुद्ध नहीं तव रक्त, नहीं तुझमें कुछ पानी॥२६॥
सपना हो तो देश के हित ही का हो मित्र।
गाना हो तो देश के हित का गीत पवित्र॥

---

[1] 'हृदय-तरंग' (ना० प्र० स०, आगरा) पृ० ४७

[2] वही, पृ० ११४

हित का गीत पवित्र प्रेम बानी से गाओ।
रोना हो तो देश हेतु ही अश्रु बहाओ।।
देश! देश! हा देश! समझ बेगाना अपना।
रहें झोपड़ी बीच महल का देखें सपना।।३७।। इ०[1]

जगन्नाथ 'जोशी' ने इसी प्रकार, अपनी 'स्वदेश' शीर्षक कविता मे भारत को स्वर्गतुल्य ठहराया है। ये उसकी प्रत्येक वस्तु को आत्मीयता के भाव मे देखते है और उसके सौंदर्य एव महानता से अपने को पूर्णत प्रभावित प्रकट करते है। ये अत मे कहते है—

विधि विपाक से सम्प्रति तुझमें भरे हुए है क्लेश।
तो भी है तू परम शान्तिमय सुन्दर सुखद विशेष।।
प्यारे स्वर्ग समान स्वदेश।।[2]

इन्हे अपना भारत इतना प्रिय है कि ये अपनी एक अन्य कविता 'अतिम प्रार्थना' मे उसे अपनी मृत्यु के समय भी एक बार देख लेना चाहते है। ये चाहते है कि मै उसीका नाम जपता हुआ मरू, उसके लिए गर्व मेरे हृदय मे अत तक बना रहे और उसकी कुछ न कुछ सेवा भी करता हुआ उस काल तक अपने देशवासियो की सुख एव समृद्धि की दशा मे देख सक। इनकी कुछ पक्तिया इस प्रकार है—

जगदीश! यह विनय है, जब प्राण तन से निकलें।
प्रिय देश देश रटते यह प्राण तन से निकलें।
× × ×
भारत का चित्रपट हो, युग नेत्र के निकट हो।
श्री जान्हवी का तट हो, तब प्राण तन से निकलें।।इ०[3]

---

१ 'स्वदेशी कुण्डल' (रसिक समाज, कानपुर), पृ० ८
२ 'राष्ट्रीय वीणा' (प्रताप कार्यालय, कानपुर), भाग २ पृ० ६७
३ वही, भा० १ पृ० ६७

परंतु इन उपर्युक्त सभी द्विवेदीयुगीन स्वदेश प्रेमी कवियों से अधिक लोकप्रिय श्री मैथिलीशरण गुप्त रहे हैं जो अभी तक जीवित भी हैं। ये हिंदी-कविता प्रेमियों द्वारा 'राष्ट्रीय कवि' कहला कर प्रसिद्ध हैं और इन्होंने स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव संबंधी बहुत सी रचनाएं भी की हैं। स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव तत्त्वत: एक ही प्रकार की मनोवृत्ति के दो परिचायक हैं, किंतु दोनों की मूल प्रेरणाओं में कुछ अंतर भो लक्षित होता है। स्वदेश प्रेम जहाँ किसी देश विशेष की भौगोलिक अन्विति से आरंभ होता है उसे बहुधा व्यक्तित्त्व तक प्रदान कर देता है वहाँ राष्ट्रीय भाव वहाँ के जन-समाज की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता का भी आधार चाहता है। दोनों को उस देश के गौरव का इतिहास अनुप्राणित किया करता है और दोनों की दशा में अपनी 'आन' को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा करना अनिवार्य है। किंतु स्वदेश प्रेम में जहाँ व्यक्तिगत भावुकता को मात्रा अधिक रहती है और वह प्राय: समय-समय पर ही उभड़ा करती है वहाँ राष्ट्रीय भाव सदा पूरे राष्ट्र को प्रभावित किये रहता है और उसे अधिकतर क्रियाशील भी बना देता है। वास्तव में स्वदेश-प्रेम किसी व्यक्ति के उस भाव को सूचित करता है जो उसके हृदय में अपनी जन्मभूमि के प्रति कभी-कभी स्वभावत: जागृत हो जाता है और वह प्राय: धार्मिक रूप भी ग्रहण कर लेता है। किन्तु राष्ट्रीय भाव उसके हृदय में केवल इस कारण उठता है कि मेरे सभी देशवासी एक ही राष्ट्र के हैं और सबकी स्वार्थ-दृष्टि एक और अभिन्न है। इसका कारण राष्ट्रीय भाव में आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक प्रेरणाएं भी काम करती रहती हैं। स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव एक दूसरे के पूरक भी कहे जा सकते हैं और कवियों में ये दोनों ही न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त पं० श्रीधर पाठक, 'कविरत्न' एवं 'जोशी' में जहाँ स्वदेश प्रेम की मात्रा अधिक लक्षित होती है और राष्ट्रीय भाव उतना स्पष्ट नहीं प्रतीत होता वहाँ 'सनेही' एवं 'पूर्ण' की कविताओं में हमें राष्ट्रीय भाव की ही प्रचुरता दीख पड़ती है। श्री मैथिलीशरण

गुप्त की रचनाओ में इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के उदाहरण प्रायः समान रूप से मिल सकते है।

गुप्त जी एक धार्मिक व्यक्ति है और भारतीय संस्कृति के गुरुत्व और विशालता मे उन्हें पूर्ण आस्था है। वे भारत को न केवल इसलिए महत्त्व देते है कि वह उनकी अपनी मातृभूमि है अपितु इसलिए भी कि वह उनके इष्ट 'हरि' की भी लीला भूमि रह चुकी है और उसकी जनता, अपने अनेक महापुरुषो तथा अपनी संस्कृति की महत्ता के कारण, आज भी गौरवशाली समझी जाती है। अपनी मातृमूर्ति नामक कविता में वे कहते है—

जय जय भारत भूमि भवानी!
अमरों ने भी तेरी महिमा वारंवार बखानी॥
तेरा चन्द्रबदन वट विकसित शान्ति सुधा बरसाता है।
मलयानिल निश्वास निराला नवजीवन सरसाता है॥
हृदय हरा कर देता है यह अंचल तेरा धानी;
जय जय भारत भूमि भवानी! इत्यादि[1]

फिर 'भारतवर्ष' शीर्षक कविता में भी बतलाते हैं —

हरा भरा यह देश बना कर विधि ने रवि का मुकुट दिया,
पाकर प्रथम प्रकाश जगत ने इसका ही अनुसरण किया।
प्रभु ने स्वयं 'पुण्यभू' कह कर यहाँ पूर्ण अवतार लिया,
देवों ने रज सिर पर रक्खी, दैत्यों का हिल गया हिया।
लेखा श्रेष्ठ इसे शिष्टों ने, दुष्टों ने देखा दुर्द्धर्ष,
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा भूमि-भाग्य सा भारतवर्ष।[2]

---

[1] 'स्वदेश संगीत' (साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी), पृ० १३२
[2] वही, पृ० ११

परंतु गुप्त जी भारत की वर्त्तमान हीनावस्था के कारण दुखी भी जान पड़ते हैं। अतएव, अपने इष्टदेव 'हरि' को उसके अतीत गौरव का वे बार-बार स्मरण दिलाते हैं और उसकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। 'प्राचीन भारत' कविता में वे कहते हैं,

सुख सभी जिसको तुमने दिये,
विविध रूप धरे जिसके लिये।
न कुछ वस्तु अलभ्य रही जहाँ,
अब हरे! वह भारत है कहाँ?

× × ×

सुन पड़ी न कहीं छल छिद्रता,
कर सकी न प्रवेश दरिद्रता।
डर किसी रिपु का न रहा जहाँ,
अब हरे! वह भारत है कहाँ?

× × ×

गुण कहाँ तक यों उसके कहें,
उचित है अब तो चुप हो रहें।
सुख कथा दुखदायक है यहाँ!
अब हरे! वह भारत है कहाँ?[१]

अंत में, उस हरि से ही वे इस बात की प्रार्थना करते हैं कि भारत की एक बार फिर से 'जय' हो जाय। 'भारत की जय' शीर्षक कविता में उन्होंने उन सारी बातों का उल्लेख किया है जो उनके आदर्शानुसार एक महान् एवं समृद्धशाली देश में दीख पड़ना चाहिए; जैसे,

न हमको कोई भी भय हो।
दयामय भारत की जय हो॥

---

[१] 'स्वदेश संगीत' (साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी), पृ० ३५-८

अलसता पर तन की जय हो।
चपलता पर मन की जय हो।
कृपणता पर धन की जय हो।
मरण पर जीवन की जय हो।
पवित्रात्मा का प्रत्यय हो।
दयामय भारत की जय हो।।इत्यादि[1]

परंतु गुप्त जी प्रभु से केवल स्वयं अपने ही भारत के लिए प्रार्थना नहीं करते, वे उससे भी प्रायः इसी प्रकार की अभिलाषा प्रकट कराते हैं और नींद से जगकर सचेत हो जाने वाले की भाँति उसके द्वारा अपनी 'अनिश्चय' नामक कविता के अंत में कहलाते हैं—

धरती हिल कर नींद भगा दे,
वज्रनाद से व्योम जगा दे,
देव और कुछ लाग लगा दे,
निश्चय करूँ कि भारत हूँ मैं,
हूँ या था, चिन्तारत हूँ।।[2]

इसी प्रकार सभी भारतवासियों से भी 'भारत सन्तान' कविता द्वारा वे कहलाते हैं—

सब बातों में हम रहे सदा आगे हैं;
विघ्नों के भय से कहीं नहीं भागे हैं।
सदियों तक सोये, किन्तु पुनः जागे हैं;
अब भी हमने निज भाव नहीं त्यागे हैं।।

---

[1] 'स्वदेश संगीत' (सा० स०) पृ० ९४-६
[2] वही, पृ० ५९

फिर बारी हे संसार! हमारी आई।
हम हैं भारत सन्तान करोड़ों भाई ॥[१]

इसके सिवाय गुप्त जी ने अपनी 'वैतालिक' नाम की एक लंबी काव्य रचना द्वारा स्वदेशवासियों को स्वयं भी उद्बोधित किया है। वे कहते हैं—

नई पौ फटी रात कटी;
तमकी अन्तर पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनो द्वार खोलो ॥

× × ×

बैठो वीर मनोरथ में,
विचरो सदा प्रेम पथ में।
तुम प्रकाश से खिल जाओ,
अखिल विश्व में मिल जाओ।

× × ×

भारतमाता के बच्चे,
विश्वबन्धु तुम हो सच्चे।
फिर तुमको किसका भय है,
उद्यत हो जय ही जय है ॥[२]

राष्ट्रीय भाव के कुशल कवि गुप्त जी ने अपने देशवासियों को केवल जगा देने मात्र की ही चेष्टा नही की है। उन्होंने उनके सामने उनके आदर्श चरित्र पूर्व पुरुषों के अनेक उदाहरण भी रख दिये हैं जिनके अनुसरण में वे अपनी दशा को पूर्णतः सुधार सकते है। भारत के विशाल राष्ट्र मे हिंदू, बौद्ध,

---

[१] 'स्वदेश संगीत' (सा० स०, चिरगांव, झाँसी) पृ० ८७
[२] 'वैतालिक' (साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी), पृ० १-३२

सिख, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि धर्मो के अनुयायी सम्मिलित हैं और उनके पृथक्-पृथक् सिद्धांत उन्हें पृथक्-पृथक् ढग के आदर्शानुसार अनुप्राणित करके आगे बढ़ा सकते हैं। अतएव, गुप्त जी ने इतिहास के उन सभी महापुरुषों के चरित्रों के दृष्टांत प्रस्तुत किये हैं जिनका इस देश के साथ किसी न किसी रूप का संबंध था। उन्होंने न केवल 'रामायण' से श्रीराम आदि का चरित्र लिया है और 'महाभारत' से श्रीकृष्ण आदि का चरित्र लेकर उसकी चर्चा की है, अपितु बौद्धों एवं सिखों के धार्मिक साहित्य से उन्होंने क्रमशः गौतम बुद्ध और यशोधरा आदि के तथा प्रसिद्ध सिख गुरुओं के चरित्रों का भी चित्रण किया है और कहा जाता है कि वे शीघ्र ही अपनी एक रचना द्वारा मुसलमानों के 'कर्बला' के भी गीत गाने वाले हैं तथा ईसाइयों के ईसामसीह पर लिखने वाले हैं। वे उन सभी आदर्श चरित्रों के प्रति एक समान श्रद्धा भाव प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं जिस कारण उनका राष्ट्रीय भाव उनकी रचनाओं के अन्तर्गत पूरी आत्मीयता की पुट के साथ व्यक्त होता है और इस दृष्टि से व्यापक स्वदेश-प्रेम का रूप भी ग्रहण कर लेता है।

द्विवेदी-युग में स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव वाले काव्य की प्रधानता रही, किंतु अन्य प्रकार के प्रेम-साहित्य की भी कमी नहीं थी। स्वयं गुप्त जी ने ही अपने 'साकेत', 'यशोधरा' आदि कई काव्य-ग्रन्थों द्वारा उसकी श्रीवृद्धि में सहयोग प्रदान किया और 'हरिऔध', 'रत्नाकर' जैसे अन्य कवियों ने इस ओर अपना विशेष ध्यान दिया तथा कतिपय सूफ़ी कवियों ने भी प्रेम-कहानियाँ लिखी। प० अयोध्यासिंह 'हरिऔध' (ज० सं० १९२२) वास्तव में, करुणरस प्रधान काव्य की रचना में अधिक निपुण थे। उन्होंने 'प्रियप्रवास' एवं 'वैदेही वनवास' नामक दो प्रबन्ध काव्यों की रचना की है जिनमें क्रमशः श्रीकृष्ण के मथुरागमन एवं सीता के वनवास का वर्णन किया गया है। 'प्रियप्रवास' काव्य का आरंभ 'दिवस का अवसान' से होता है जब श्रीकृष्ण गोचारण के अनंतर गोकुल में प्रवेश करते हैं और उनके

आगमन से सारा गोप-समाज आनंदित हो उठता है। किंतु उसके कुछ ही घड़ी पीछे वहाँ पर कंस के भेजे हुए 'भूपनिदेश' की घोषणा की जाती है जिसमें श्रीकृष्ण के लिए मथुरा जाने का निमन्त्रण रहता है और उसे सुनकर सभी ब्रजवासी अधीर हो उठते हैं। वे आपस में उन सभी दुष्कृत्यों की चर्चा करते हैं जो श्रीकृष्ण के विरुद्ध कंस ने किये थे और भविष्य के विषय में भी भयभीत होते हैं। निस्तब्ध रात्रिकाल में यशोदा स्नेहकातर भाव से बिलखती है और उधर श्रीकृष्ण की प्रेमिका राधा भी चिंतित हो जाती है। इन दोनों (राधा एवं कृष्ण) के पारस्परिक संबंध के विषय में कवि का कहना है,

युगल का वय साथ सनेह भी,
निपट नीरवता संग था बढ़ा।
फिर यही वर बाल सनेह ही,
प्रणय में परिवर्तित था हुआ॥१६॥[1]

इसलिए राधा अपने मनोरथों का परिचय अपनी सखी ललिता से इस प्रकार देती है—

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ,
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।[2]

वह भावी विरह की आशंका के कारण बावली-सी हो जाती है। उसे अपने चारों ओर का वातावरण अपने ही भाव में रंगा हुआ प्रतीत होता है और वह यह नहीं समझ पाती,

बहु ध्वनि करुणा की फैल सी क्यों गई है,
तरुगन मनमारे आज क्यों यों खड़े हैं।

---

[1] 'प्रियप्रवास' (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर), पृ० ३६

[2] वही, पृ० ३९

अवनि अति दुखी सी क्यों हमें है दिखाती।
नभ पर दुख छाया पात क्यों हो रहा है ॥३७॥[1]

परंतु 'हरिऔध' जी की राधा कोई साधारण प्रेमिका नहीं जान पड़ती। वह विरह के कारण अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करती हुई भी धैर्य का सहारा लेना नही भूलती और अपने प्रोषित प्रियतम का सान्निध्य उसकी स्मृति द्वारा ही बनाये रह जाती है। वह सच्चे प्रेम-भाव एवं निरे मोह के अंतर से भलीभाँति परिचित है और वह कहती है—

सद्यः होती फलित चित में मोह की मत्तता है।
धीरे धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती है विवश अपरा वृत्तियाँ मोह द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता सर्व सद्वृत्ति को है ॥६४॥[2] **इत्यादि**

अतएव अपने प्रियतम का प्रेम उसे संकीर्ण हृदय बनाने की अपेक्षा उसमें उदारता का भाव भरने लगता है और वह उसके रूप सौदर्य का सर्वत्र अनुभव करती हुई, अंत में, एक विश्वप्रेमिका बन जाती है तथा लोकसंग्रह तक पर 'आरूढ़' हो जाती है। कवि ने उसके मुख से स्वयं भी कहलाया है—

पाई जाती विविध जितनी वस्तु है जो सबों में।
मै प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ।
तो मै कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय तल में विश्वका प्रेम जागा ॥१०५॥[3]

'प्रियप्रवास' के 'पंचदश सर्ग' में जो 'हरिऔध' जी ने एक विरहिणी बाला का चित्रण किया है वह भी कई दृष्टियो से उल्लेखनीय है। वह 'बाला'

---

[1] **'प्रियप्रवास'**

[2] **वही, (ख० प्रे०, बांकीपुर), पृ० २३५**

[3] **वही, पृ० २४१**

उद्धव की दृष्टि में उस समय पड़ती है जब वे कुंजों में मुग्ध होकर भ्रमण करते रहते हैं और वह उनका ध्यान आकृष्ट कर लेती है। वह उन्मत्त-सी बनकर पुष्पों, पक्षियों एवं भ्रमरादि के साथ वार्त्तालाप करती दीख पड़ती है। वह अपने प्रियतम के चरण चिह्नों तक को उन्मना बनाकर देखती है और उन्हें अपनी छाती से लगाना चाहती है। उद्धव उसकी बातों को वृक्षों की ओट में रहकर सुनते जाते हैं और उन्हें यह जानकर महान् आश्चर्य होता है कि वह किस प्रकार निरे निर्जीव पदार्थों तक से बोल रही है। वह विरहिणी बाला अंत में यमुना नदी के किनारे पहुँच जाती है और उसमें भी कह उठती है—

विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं,
मम तन व्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकला हो, बड़ी मंजुता से,
कल कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना ॥१२५॥
घन तन रत मैं हूँ तूं असेतांगिनी है,
तरलित-उर तू है चैन मैं हूँ न पाती।
अयि अलि! बन जा तूँ शान्ति दाता हमारी,
अति प्रतपित मैं हूँ ताप तूँ है नसाती ॥१२६॥

अर्थात् हे सखी, यदि मैं भाग्यवश तेरी धार में आ पड़ूं तो तू मेरे शरीर को ब्रज की मिट्टी में ही मिलाना और उस पर दया करके सुन्दर-सुन्दर श्याम रंग के पुष्प खिलाना जिससे मेरी मृत्यु के पीछे भी अपने प्रियतम का साहचर्य न भूल सके। मुझ पर तुझे चाहिए कि स्वभावतः दया करे, क्योंकि जिस प्रकार तू श्याम रंग की है उसी प्रकार मै भी श्याम शरीरवाले में अनुरक्त हूं और जिस प्रकार तेरे भीतर तरल तरंगें प्रवाहित हो रही हैं उसी प्रकार मेरा मन भी बेचैन हो रहा है। मैं अत्यंत तप्त हूँ और तू तापों

को दूर किया करती है। इसी विरहिणी बाला ने, इसके पहले विरह भाव का निर्माण करने वाले विधाता को कोसते हुए कहा है--

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी,
यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया,
वपनपटु कुपीड़ा बीज प्राणी उरों में ।।६८।।

'प्रियप्रवास' में जितना अंश विरह के वर्णन का है उससे कहीं कम संयोग की चर्चा का है। वात्सल्य भाव के उदाहरण भी हमें उसी स्थल पर मिलते हैं जहाँ पर श्रीकृष्ण की माता यशोदा उनके भावी अथवा वास्तविक विरह के भी समय उन्हें स्मरण करती है। उसमें अधिकतर प्राचीन वर्णनशैली का ही अनुसरण है और कहीं-कही पर उसके कथन करुणरस तक के उदाहरण-से बन जाते हैं। "हरिऔध' जी के 'वैदेही वनवास' काव्य में भी कोई विशेषता नहीं है और वह 'प्रियप्रवास' से अधिक करुणरस पूर्ण भी है। 'प्रियप्रवास' की राधा को देखकर हमें कभी-कभी गुप्त जी के 'साकेत' काव्य की उर्मिला का स्मरण हो आता है। गुप्त जी ने अपनी उर्मिला को भी हरिऔध जी की राधा के समान लोक-संग्रह की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। परंतु दोनों नायिकाओं में एक स्वाभाविक अंतर आ जाता है जिसे दूर करने में गुप्त जी सफल होते नही जान पड़ते। उर्मिला एक राजकुल की कन्या है और दूसरे राजकुल की पुत्र वधू है जिस कारण राजकीय मर्यादा की रक्षा करना उसका निसर्गसिद्ध कर्तव्य हो जाता है। इसीलिए उसकी लोक-संग्रह की प्रवृत्ति यहीं तक सीमित रह जाती है कि वह दीन-दुखी किसानों की दशा का हाल अन्य लोगों से पूछकर जाना करती है और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करके उनका कुछ न कुछ उपकार परोक्ष रूप में कर देती है। परंतु राधा 'वृषभानुनरेश' की पुत्री होती हुई भी

उससे अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है और वह अभी तक अपने प्रियतम की पत्नी तक नही बन सकी है। वह ब्रज के कुजो और जगलो मे स्वच्छद विचरण कर लेती है और किसी 'मूछिता' को अपनी गोद मे लेकर उस पर पानी के छीटे डालती तथा उसके लिए पखा भी झल सकती है और यही कारण है कि उसका अपने प्रियतम के प्रति उद्दिष्ट प्रेम विश्व प्रेम तक मे परिणत हो जाता है। इसके सिवाय उर्मिला के विरह की लबी अवधि का भी चौदह वर्षों के समाप्त होने पर, अत हो जाना निश्चित था जहाँ राधा के, प्रियतम श्रीकृष्ण के मिलन का समय केवल अनिश्चित ही नही था प्रत्युत उनके मथुरा से द्वारका चले जाने पर असभव-सा हो गया। फिर भी राधा के हृदय की यह अपूर्व सहनशीलता है कि वह किंचिन्मात्र भी कभी विचलित नही हुआ और उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ही ओर बढता चला गया। दोनो कवियो ने अपनी-अपनी नायिकाओ के चरित्रो मे कुछ न कुछ आधुनिकता लाने की चेष्टा की है, किन्तु राधा को अकित करते समय जहाँ रग अधिक मात्रा मे चढ गया जान पडता है वहाँ उर्मिला का चित्र बहुत कुछ अस्पष्ट और धुधला ही रह गया है।

गुप्त जी ने एक विरहिणी का चरित्र-चित्रण अपनी 'यशोधरा' नामक रचना मे किया है। गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा इस काव्य ग्रथ की मुख्य पात्री है ओर कवि ने उसे पत्नी, माता, विदुषी तथा विरहिणी जैसे कई भिन्न-भिन्न रूपो मे अकित किया है। उसका विरह उसे इसलिए अधिक खलता है कि उसके प्रियतम उसे सोते समय छोडकर चुपके-चुपके चले गये है। किंतु इस बात के लिए उसे कष्ट नही कि उसके साथ उन्होने किसी प्रकार के धोखे का काम किया है अथवा उसे बाधा समझकर त्याग दिया है। वह एक सच्ची आर्य ललना है और इसीलिए अपनी सखी से कहती है—

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते ?

जायं सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ।।इत्यादि[1]

यशोधरा के प्रेमातिरेक ने उसकी स्वार्थ दृष्टि को उसके प्रियतम के चरणों में सदा के लिए अर्पित कर दिया है। इस कारण उसे अब केवल इस बात का कष्ट है कि उन्होंने, यहाँ से जाते समय, मुझसे बिदा नहीं ली और न मैं उन्हें उस समय देख सकी। उसकी तो मनोकामना केवल इतनी ही रह गई है,

बस, सिन्दूर बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल।[2]

फिर भी कवि ने उसे कहीं-कहीं अपने भाग्य पर कोसनेवाली स्त्री के रूप में भी दिखला दिया है; जैसे

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।[3]

पुरानी कथाओं के आधार पर कविता लिखकर उसमें नवीन भावों का कुछ न कुछ समावेश करनेवाले इस युग के एक अन्य कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' भी थे जिनका जीवन काल सं० १९२३ से सं० १९८९ तक रहा। वे व्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे और उसकी परंपरागत शैली के प्रयोग में अत्यंत निपुण थे। किंतु प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति के अवसरों पर वे कतिपय अनूठी उक्तियों का प्रयोग कर देते थे जिनके कारण उनकी ऐसी

---

[1] 'यशोधरा' (साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी), पृ० २४-५

[2] वही, पृ० ३४

[3] वही, पृ० ४७

रचनाओं में कभी-कभी हृदय पक्ष एवं मस्तिष्क पक्ष का एक विचित्र सम्मिलन हो जाया करता था और काव्य रसिकों के लिए एक प्रकार की खट-मिट्ठी सामग्री प्रस्तुत हो जाती थी। 'रत्नाकर' जी ने अपनी 'उद्धव शतक' नामक रचना का विषय, 'श्रीमद्भागवत' के समय से चलती आई परंपरा के अनुसार ही चुना है, किंतु उन्होंने उसमें सूरदास एवं नन्ददास की भक्ति-कालीन भाव-व्यंजना को रीति-कालीन रूप दे दिया है और उसे कुछ आधुनिक भी बना दिया है। 'रत्नाकर' जी की गोपियां श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमानुरक्ति में दृढ़ संकल्प और अचल हैं, उन्हें कोई भी तर्क डिगा नहीं सकता। वे उनके प्रति इतनी तन्मय हैं कि उद्धव के कथन का उन पर किंचिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता और वे निरन्तर अपनी ही स्थिति में रहकर उनसे बातें करती तथा उन्हें क्रमशः प्रभावित करती चली जाती हैं। उद्धव के इस प्रस्ताव पर कि तुम लोग

जीव आतमा को परमातमा में लीन करौ
छीन करौ तनकौं न दीन करौ मनकौं ॥३३॥[1]

वे विलख पड़ती हैं और अपनी विविध उक्तियों द्वारा उन्हें समझाती हुई सी, अंत में, अपने वास्तविक भाव को यों प्रकट करती हैं,

नैननि के आगैं नित नाचत गुपाल रहैं
ख्याल रहैं सोई जो अनन्य रसवारे हैं।
कहै रतनाकर सो भावना भरीयै रहै
जाके चाव भाव रचैं उर में अखारे हैं॥
ब्रह्म हूँ भए पै नारि ऐसियै बनी जो रहैं
तौ तौ सहैं सीस सबै बैन जो तिहारे हैं।

---

[1] 'रत्नाकर' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृ० १५८

यह अभिमान तौ गवैहें ना गएहूं तन
हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं ॥६०॥[1]

'रत्नाकर' जी की गोपियों में भावुकता के साथ-साथ वाग्विदग्धता भी प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ती है। इन दोनों का संयोग कहीं-कहीं पर बहुत सुंदर जान पड़ता है और इनके द्वारा उन प्रेमिका गोपियों के व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ जाता है। गोपियों की एक उक्ति इस प्रकार है——

आए हौ सिखावन कौ जोग मथुरा तें तोपै
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ
दुख दरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौ ना॥
टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारौ हाय
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहिं
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना॥४१॥[2]

गोपियों ने इस उक्ति द्वारा उद्धव को बतला दिया है कि उनके हृदय रूपी दर्पण में उनके प्रियतम का प्रतिबिंब सुरक्षित है जो, उद्धव के वियोग-जनक वचनों के प्रस्तर-खंडों द्वारा उक्त दर्पण के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर, अनेक बन जा सकता है जिस कारण उन्हें न केवल अपने मन पर आघात पहुँचने का ही दुःख होगा अपितु अपने प्रियतम की अनेकता उन्हें और भी सताने लगेगी। गोपियों को उद्धव द्वारा कथित ब्रह्मज्ञान बहुत बेमेल जँचता है और वे उनसे स्पष्ट कह देती हैं——

---

[1] 'रत्नाकर' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १६९

[2] वही, पृ० १६१

ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नेकुं
देख लेते कान्ह जौ हमारी अखियानि तें ।।६६।।[1]

'रत्नाकर' जी ने उक्तियों के प्रयोग अपनी अन्य रचनाओं में भी किये है। अपनी 'शृंगार लहरी' में एक सखी द्वारा कहलाते है—

जबतें विलोक्यौ बाल लाल बन कुंजनि मैं,
तबतें अनंग की तरंग उमगति है।
कहै रतनाकर न जागति न सोवति है,
जागत औ सोवत मैं सोवत जगति है।।
डूबी दिन रैन रहै कान्ह ध्यान वारिधि मैं,
तौहूँ विरहागिनि की दाह सौं दगति है।
धूरि परौ एरी इहि नेह दई मारे पर,
जाकी लाग पाइ आग पानी मैं लगति है ।।७०।।[2]

प्रेम-रहस्य को रत्नाकर जी बहुत बडी गभीरता प्रदान करते हैं और कहते है कि इसका वास्तविक जानकार कदाचित् ही कोई हो सकता है। 'नेह' की 'गति' के विषय मे जितना भी विचार किया जाय वह सदा गूढ ही बनी रहती है; जैसे,

जानत जान हूँ मैं बिरलै कोऊ, कौन अजाननि कौ कहौ लेखौ।
है रतनाकर गूढ़ महा गति, नेह की नीकै विचारि कै देखौ।।
भीति मिटै हूँ न नीति मिटै अरु, नीति मिटै हूँ न रीति कौ रेखौ।
रीति मिटै हूँ न प्रीति मिटै अरु, प्रीति मिटै हूँ मिटै न परेखौ ।।१०३।।[3]

और आदि मे अत तक उसमें जितने भी परिवर्त्तन दीख पड़ते है उसकी अनोखी कसक मे अपने को बचा पाना असभव-सा जान पड़ता है।

---

[1] 'रत्नाकर' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १७१
[2] वही, पृ० ३४०
[3] वही, पृ० ३५२

यह अभिमान तौ गवैहैं ना गएहूं तन
हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं ।।६०।।[१]

'रत्नाकर' जी की गोपियों में भावुकता के साथ-साथ वाग्विदग्धता भी प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ती है । इन दोनों का संयोग कहीं-कहीं पर बहुत सुंदर जान पड़ता है और इनके द्वारा उन प्रेमिका गोपियों के व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ जाता है । गोपियों की एक उक्ति इस प्रकार है—

आए हौ सिखावन कौ जोग मथुरा तैं तोपै
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ
दुख दरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौना ।।
टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारौ हाय
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहिं
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना ।।४१।।[२]

गोपियों ने इस उक्ति द्वारा उद्धव को बतला दिया है कि उनके हृदय रूपी दर्पण में उनके प्रियतम का प्रतिबिंब सुरक्षित है जो, उद्धव के वियोग-जनक वचनों के प्रस्तर-खंडों द्वारा उक्त दर्पण के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर, अनेक बन जा सकता है जिस कारण उन्हें न केवल अपने मन पर आघात पहुँचने का ही दुःख होगा अपितु अपने प्रियतम की अनेकता उन्हें और भी सताने लगेगी । गोपियों को उद्धव द्वारा कथित ब्रह्मज्ञान बहुत बेमेल जँचता है और वे उनसे स्पष्ट कह देती हैं—

---

[१] 'रत्नाकर' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १६९
[२] वही, पृ० १६१

ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नेकुं
देख लेते कान्ह जौ हमारी अखियानि तें ॥६६॥[1]

'रत्नाकर' जी ने उक्तियों के प्रयोग अपनी अन्य रचनाओं में भी किये हैं। अपनी 'शृंगार लहरी' में एक सखी द्वारा कहलाते हैं—

जबतें विलोक्यौ बाल लाल बन कुंजनि मैं,
तबतें अनंग की तरंग उमगति है।
कहै रतनाकर न जागति न सोवति है,
जागत औ सोवत मैं सोवत जगति है॥
डूबी दिन रैन रहै कान्ह ध्यान वारिधि मैं,
तौहूँ विरहागिनि की दाह सौं दगति है।
धूरि परौ एरी इहि नेह दई मारे पर,
जाकी लाग पाइ आग पानी मैं लगति है॥७०॥[2]

प्रेम-रहस्य को रत्नाकर जी बहुत बड़ी गंभीरता प्रदान करते हैं और कहते हैं कि उसका वास्तविक जानकार कदाचित् ही कोई हो सकता है। 'नेह' की 'गति' के विषय में जितना भी विचार किया जाय वह सदा गूढ़ ही बनी रहती है, जैसे,

जानत जान हूँ मैं बिरलै कोऊ, कौन अजाननि कौ कहौ लेखौ।
है रतनाकर गूढ़ महा गति, नेह की नीकैं बिचारि कै देखौ॥
भीति मिटै हूँ न नीति मिटै अरु, नीति मिटैं हूँ न रीति कौ रेखौ।
रीति मिटैं हूँ न प्रीति मिटै अरु, प्रीति मिटै हूँ मिटै न परेखौ ॥१०३॥[3]

और आदि से अंत तक उसमें जितने भी परिवर्तन दीख पड़ते हैं उसकी अनोखी कसक से अपने को बचा पाना असंभव-सा जान पड़ता है।

---

[1] 'रत्नाकर' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १७१

[2] वही, पृ० ३४०

[3] वही, पृ० ३५२

द्विवेदी युग के सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी एक 'भ्रमरदूत' नाम का काव्य लिखा है जो अपूर्ण है। किंतु उसमे न तो सूरदास अथवा नन्ददास के भ्रमरगीतो का उद्धव गोपी-सवाद है और न उस प्रकार की प्रेमचर्चा का ही उल्लेख है। 'कविरत्न' जी ने इस रचना द्वारा भ्रमर को दूत बनाकर श्रीकृष्ण की माता यशोदा के मुख मे उनके यहाँ सदेश की बाते भेजने का उपक्रम किया था। 'भ्रमरदूत' यशोदा के 'श्याम-विरह' की अनुभूति से आरभ होता है, किंतु सदेश मे ब्रज की दुरवस्था के व्याज से कवि ने भारत की दयनीय दशा का भी परिचय दे दिया है और उसका उद्देश्य यही जान पडता है कि उसके इष्टदेव श्रीकृष्ण को एक बार फिर अवतार धारण करना पडे। कविरत्न जी ने 'प्रेम' के विषय पर भी एक स्वतन्त्र रचना 'प्रेमकली' नाम से की थी और उसमे प्रेम के माहात्म्य को बडे अच्छे ढग से स्थान दिया था। उनके वर्णन मे यद्यपि कोई नवीनता नही है फिर भी उनकी शैली के उदाहरण मे दो निम्नलिखित अवतरण दिये जा सकते है--

होत न सोभा कतहुँ नेह सों सूने उर की।
स्वीकृत होइ न सनद कबहुँ जो बिना मुहर की॥
विविध भावना परिधि केन्द्र बस एक प्रेम है।
मिलत जहाँ सब आय निरत बस एक नेम है॥[1]

तथा

नैनन भरि इक बेर जबै कहुँ लखत सनेही।
होत प्रफुल्लित रोम रोम आनंद सों देही॥
सहस नैन ह्वै लखत तऊ नित दरसन भूखे।
बैन सुधारस न्हात गात तउ लागत सूखे॥[2]

---

[1] **'एकान्तवासी योगी' (ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा), पृ० ६**

[2] **वही**

इस युग में हिंदी के कुछ कवियों ने कुछ रचनायें अन्य भाषाओं के अनुवाद करके भी लिखी थीं। उनमें पं० श्रीधर पाठक का भी नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ की कुछ सुंदर कविताओं का हिन्दी पद्य में रूपांतर किया था। गोल्डस्मिथ की एक कविता 'हर्मिट' नाम की प्रसिद्ध है जिसमें दो प्रेमियों की एक बड़ी रोचक कहानी कही गई है। अंजलैना नाम की एक बालिका थी जो किसी धनाढ्य की पुत्री थी और उसके विवाह योग्य होने पर उसका पाणिग्रहण करने के लिए अनेक युवक प्रयत्नशील थे। उन्हींमें एक युवक एडविन नाम का भी था जो सुंदर होने के साथ सच्चे हृदय का भी था, किंतु जिसकी ओर अंजलैना ने मूर्खतावश पूरा ध्यान नहीं दिया और वह हताश होकर वहाँ से चला गया जिस बात का प्रभाव पीछे अंजलैना पर भी बहुत पड़ा। अंजलैना उसके लिए बेचैन होने लगी और उसकी खोज में पुरुष का वेश धारण करके जंगलों की खाक छानने लगी। एक दिन वह संयोगवश किसी साधू की कुटी पर पहुँची जिसने उसका अतिथि सत्कार किया और उसकी उदासी का कारण पूछा जिससे अंजलैना ने उससे अपना सारा वृत्तांत कह डाला। साधू को उसकी बातें सुनते ही परम आनंद हुआ और उसने उसे गले लगा लिया क्योंकि वह एडविन ही था जो साधू बन गया था। पाठक जी ने 'हर्मिट' के पद्यानुवाद का नाम 'एकान्तवासी योगी' रखा है जिससे दो अवतरण नीचे दिये जा रहे हैं। एडविन पुरुषवेशधारिणी अंजलैना की उदासी का कारण प्रेम समझ कर उसे समझाता हुआ कहता है—

> **जो तू प्रेम पन्थ में पड़ कर, मन को दुख पहुँचाता है।**
> **तो है निपट अजान, अज्ञ, निज जीवन व्यर्थ गँवाता है॥**
> **कुत्सित, कुटिल, क्रूर पृथ्वी पर कहाँ प्रेम का वास।**
> **अरे मूर्ख, आकाश पुष्पवत्, झूठी उसकी आस॥**[1]

---

[1] **'एकान्तवासी योगी' (ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा), पृ० ६**

इसी प्रकार सारे भेद के खुल जाने पर जब दोनों प्रेमी एक दूसरे से मिल जाते है, उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

योगी को अब उस रमणी ने, भुज भर किया प्रेम आलिंग।
गद् गद् बोल वारि पूरित दृग, उमगित मन पुलकित सब अंग ॥
बार बार आलिंगित दोनों करें प्रेमरस पान।
एक एक की ओर निहारें, वारें तन मन प्रान ॥[१]

पाठक जी ने जिस प्रकार 'हर्मिट' के अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' द्वारा मानवीय प्रेम का वर्णन किया है उसी प्रकार गोल्डस्मिथ के ही 'डिजर्टेड विलेज' के अनुवाद 'ऊजड़ग्राम' द्वारा प्रकृति प्रेम का परिचय दिया है और उसके एक तीसरे काव्य 'ट्रैवलर' के अनुवाद 'श्रान्तपथिक' की पंक्तियों द्वारा उन्होंने स्वदेश प्रेम की भी एक झाँकी दिखलाई है जो बहुत सुदर है। पाठक जी के इन अनुवादों की एक विशेषता यह जान पड़ती है कि उनकी शैली के कारण कहीं-कहीं हमें उनमें भारतीयता के भाव भी मिल जाते है।

भारतेंदु युग की ही भाँति द्विवेदी युग में भी अलौकिक प्रेम के उल्लेखनीय उदाहरण हिंदी-काव्य में नहीं मिलते। राष्ट्रीयता के सामने ईश्वरीय भक्ति का प्रचार बहुत कम दीख पड़ता था और लोगों का झुकाव धर्म से अधिक संस्कृति की ओर जान पड़ता था। स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ संत अवश्य थे जो अपनी अद्वैत भावना के रंग में मस्त रहा करते थे और कभी-कभी कुछ गा भी उठते थे। किंतु उन्होंने भी काव्य-रचना के उद्देश्य से अधिक पंक्तियाँ नही लिखी है। इस युग तक पिछले खेवे के सूफी कवि अपनी प्रेम-गाथाओं का निर्माण करते जा रहे थे जिनमें ख्वाजा अहमद, शेख रहीम एवं कवि नसीर प्रधान है और उनकी क्रमशः 'नूरजहाँ' (सं० १९६२), 'भाषा प्रेमरस' (सं० १९७२) तथा 'प्रेम दर्पण' (सं० १९७८) नाम की कहानियाँ उपलब्ध है। इनमें से प्रथम दो के कथानक काल्पनिक प्रतीत

---

१ **'एकान्तवासी योगी' (ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा), पृ० १३**

होते हैं, किंतु तीसरी वाले का संबंध प्रसिद्ध प्रेमी यूसुफ़ और ज़ुलेख़ा की कथा से है। पहली एवं तीसरी कहानियों के अंत में इसी प्रकार, प्रेमगाथा के रहस्य का उद्घाटन कर दिया गया है और जायसी की 'पदुमावती' की भाँति इनमें भी दिखलाया गया है कि प्रेम-साधना अपनी काया के भीतर ही भीतर की जाती है। 'भाषा प्रेमरस' की एक विशेषता यह जान पड़ती है कि इसमें प्रेमी प्रेमसेन से कहीं अधिक ध्यान उसकी प्रेमिका चन्द्रकला की ओर दिया गया है। चन्द्रकला एक राजा की पुत्री है जिसके मन्त्री का पुत्र प्रेमसेन है और दोनों का अभीष्ट मिलन उस समय होता है जब प्रेमसेन चन्द्रकला के गुप्त महल में स्वयं भी नारीवेश में पहुँचता है जो किसी साधक के पहले स्वयं अपने साध्यवत् बन जाने की ओर संकेत जान पड़ता है। शेख़ रहीम ने प्रेम का सदा नैसर्गिक होना ही ठहराया है और अपनी प्रेम-गाथा को सुखांत रूप भी दिया है, किंतु सर्वत्र आधुनिकता का अभाव है।

१०. वर्त्तमानकालीन विविध काव्य

आधुनिक युग का अंतिम अंश जो इस समय व्यतीत हो रहा है 'वर्त्तमान काल' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस काल का आरंभ विक्रम की बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण से होता है जब कि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक रचनाओं के दिन प्रायः समाप्त हो चुके थे और उनकी प्रतिक्रिया के रूप में नवीन ढंग की छायावादी कविताएं लिखी जाने लगी थीं। द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता ने कवियों का ध्यान अधिकतर अपने अतीत गौरव के गान तथा भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की ओर ही आकृष्ट किया था। वे ऐतिहासिक अथवा पौराणिक घटनाओं के वर्णन तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त कर, अपने भावी आदर्शों के निर्माण में दत्तचित्त थे। उन्हें अपने भविष्य की भेरी का नाद अभी तक स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ रहा था और न वे किसी प्रकार शक्ति-संचय करके वर्त्तमान के समक्ष अपनी कमर कसकर खड़े ही हो पाते थे। उनकी बहिर्मुखी वृत्तियों ने उन्हें बाह्य बंधनों में डाल रखा था, अन्तर्मुख होकर सजग बन जाने का अभ्यास उन्हें अभी तक नहीं पड़ पाया था। छायावादी युग ने उन्हें एक बार अपने भीतर दृष्टिपात करने तथा अपने हृदय को विषम स्थिति के विरोध में तैयार कर देने की ओर संकेत किया। भारतेन्दु युग के राष्ट्रीय कवियों ने प्रभात वेला का अनुभव कर अपने जागरण के अवसर की पहचान भर की थी और द्विवेदी युग वालों ने अपनी शय्या का परित्याग करते समय अपनी चारों ओर देख भर लिया था। वर्त्तमान काल के ऐसे कवि नवीन चेतना द्वारा शक्ति ग्रहण करके वस्तुतः खड़े भी हो गए और आगे बढ़ने एवं दूसरों को भी प्रोत्साहित करने पर कटिबद्ध हो गए। उन्हें अपने संकल्प की दृढ़ता

एवं बलिदान की तत्परता ने पूरा-बल प्रदान किया जिस कारण उनके शब्दों में अनोखी स्फूर्ति और तीव्रता आ गई ।

हिंदी कवियों में इस प्रवृत्ति के सर्वप्रथम अग्रदूत पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' (ज० सं० १९४५) रहे हैं । इन्होंने अपनी काव्य-रचना का आरंभ द्विवेदी युग में ही किया था । किंतु इनमें सदा एक अपनी विशेषता रहती आई । इनमें मातृभूमि के प्रति आराधनीय देवता की भावना सदा काम करती रही और इनकी व्यंजना-प्रधान शैली की विशेषता भी अन्य कवियों से नितांत भिन्न रही । ये बलिदान के सर्वप्रमुख कवि रहते आये हैं और इनकी पंक्तियों में त्याग एवं उत्साह की मात्रा विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन्होंने कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा और अपनी फुटकर कविताओं द्वारा ही अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है । ये 'जीवन फूल' कविता में इस प्रकार कहते हैं—

आने दे—दुख के मेघों की घोर घटा घिर आने दे ।
जल ही नहीं, उपल भी उसको लगातार बरसाने दे ।
कर कर के गम्भीर गर्जना, भारी शोर मचाने दे ।
उससे कह दे—गहरे झोंके, तू जितने मनमाने दे ।।
किन्तु कहे देता हूं तुझसे—सब जायेंगे भूल—
तेरे चरणों पर ही अर्पित होगा 'जीवन फूल'[१] ।।इत्यादि

और अपने हृदय में इस प्रकार की दृढ़ता धारण किए हुए ही अग्रसर होते हैं । ये अपनी अभिलाषा को 'फूल की चाह' शीर्षक कविता द्वारा व्यक्त करते हैं और कहते हैं—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ

---

१ 'राष्ट्रीय वीणा' (प्रताप कार्यालय, कानपुर), भाग १, पृ० २

चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के शिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथ पर देना तू फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥

इनमें बलिदान की भावना इतनी तीव्र एवं प्रबल है कि वह इन्हें मस्त बना देती है और ये उन्मत्त-से होकर गा उठते हैं—

बीज जब मिट्टी में मिल जाय, वृक्ष तब उगता है, हे मित्र!
कलम की स्याही गिरती जाय, पत्र पर उठता जाता चित्र।
नदी नद सब जल के भांडार, चढ़ा देते हैं अपना रक्त,
अहा! तब कहीं मधुरता बूँद, मेघ से पाते वर्षा भक्त,
सफलता पाई अथवा नहीं,—उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण,
विश्व को चहिए—उच्च विचार? नहीं, केवल अपना बलिदान।
बिगुल बज गया चला सब सैन्य, धरा भी होने लगी अधीर,
खाइयाँ खोदीं रिपु ने हाय! पार हो कैसे सैनिक वीर,
"पूर दें इनको मेरे शूर शरीरों से"—दे दिये शरीर!
इधर यों सेनापति ने कहा,—उधर दब गये सहस्रों वीर।
समय पर किया शत्रु का नाश, देश ने आहा! पाया त्राण,
शेष वीरों ने छेड़ी तान,—"अहा बलिदान! धन्य बलिदान!"[१]

इनके भीतर वह जोश है जो सदा एक-सा बना रहता है और वह स्फूर्ति है जो सदा एक-सी जगी रहती है। इस कारण ये कहते हैं—

"शक्ति का लुटता है सर्वस्व"—न होंगे हम उसके बटमार।
"भक्ति का उठता है वर्चस्व"—न होगा भारत माँ के द्वार।

---

[१] 'राष्ट्रीय वीणा' (प्र० का०) पृ० १६-७

"व्यक्तियों के सिंहासन हिले"—हिलाते नहीं हमारे हाथ।
"व्यक्ति के सूत्र स्वयं मिट चले"—हमारा त्याग प्राण के साथ।
आप से आप, बिना सन्ताप, बिना छल पाप, हटेंगे दोष।
चरमता चंचलता की न हो हृदय! तुममें हो 'जीवित जोश'॥

** ** **

हिन्द माता की दोनों आँख,—'नाक' को रखकर बीचों बीच,—
अश्रु की उज्वल धारा छोड़, प्रेम का पौधा देवें सींच;
मुहम्मद पर सब कुछ कुर्बान,—मौत के हों तो हों मेहमान,
कृष्ण की सुन मुरली की तान,—चलो हों सब मिल कर बलिदान।
करेंगे क्या यह, वे जड़ जीव?—जिन्हें जननी जायो पर रोष!
तपस्वी रख सकते हैं टेक, मिला कर सादर 'जीवित जोश'॥इ०[1]

'एक भारतीय आत्मा' जहाँ देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय भाव के लिए बलिदान की वेदी की ओर सकेत करते है वहाँ श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (ज० स० १९५६) उसके लिए विप्लव एव विद्रोह का राग फूकते हैं। वे स्वभावत हृदय के कोमल जान पडते हैं और उनकी अनेक पक्तियो म हमे उनका स्नेह सिंचित स्वर ही अधिक सुन पडता है। किंतु अत्याचार का आघात सहन करने का उन्हे अभ्यास नही। वे केवल अपने देश मे ही नही प्रत्युत सारे विश्व मे क्राति की लहर उठा देना चाहते ह और उसी की लय मे गाते रहना भी चाहते हैं। वे अन्य कवियो की ओर भी लक्ष्य कर कहते है—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये"

स० १९७७ के सत्याग्रह सग्राम की पराजय पर इन्होने अपना 'पराजय गीत' भी गाया था और उसके अत मे कहा था—

---

[1] **'राष्ट्रीय वीणा' (प्रताप कार्यालय, कानपुर), दूसरा भाग, पृ० ८-९**

वर्दी फटी हृदय घायल, मुख पर कारिख क्या वेश बना ?
आंखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना।
अरे पराजित ओ रणचंडी के कपूत हट जा हट जा,
अभी समय है कह दे माँ, मेदिनी जरा फट जा फट जा,
हन्त पराजय गीत आज क्या द्रुपद सुता का चीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ।[१]

'नवीन' जी भारत के भाई-भाई को एक समान ही सुख और समृद्धि मे देखना चाहते है इस कारण उन्हे सामाजिक अत्याचार मे भी घृणा है। विश्व के अनाचार एव भारत के समाजिक अत्याचार के कारण उनका हृदय इतना क्षुब्ध है कि उसमे से उनके क्रोध की भयानक ज्वाला धधक उठती है और वे विश्वविधान के भी विरुद्ध सहसा पुकार उठते है,

नियम और उपनियम के ये बन्धन टूक टूक हो जाएं !
विश्वंभर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएं !
शान्ति दंड टूटे, उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए !
उसकी श्वासोच्छ्वास दाहिका जग के प्रांगण में छहराए !
नाश ! नाश ! हा महा नाश ! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे अंग अंग झुलसाए।[२]

अपनी 'जूठे पत्ते' शीर्षक कविता मे, वे दरिद्र बुभुक्षितो की दयनीय दशा को देखकर स्वय 'जगपति' तक पर उबल पडते है और कहते है--

लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैने देखा नर को,
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूं आग आज इस दुनिया भर को

---

[१] 'आधुनिक काव्य संग्रह' (हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ९८
[२] 'हिंदी कविता का क्रान्तियुग' ('सुधीन्द्र', जयपुर), पृ० २९९

यह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ घोंटा स्वयं जगतपति का!
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।[1]

विश्व की गिरी दशा को सँभालने के लिए वे अपनी 'कस्त्वं ? कोऽहम्' ?' कविता द्वारा मानव को ही संदेश देते हैं,

है दुनिया बहुत पुरानी यह रच डालो दुनिया एक नई,
जिसमें सिर ऊँचा कर विचरें इस दुनिया के बेताज कई।[2]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' एक ऐसे कवि हैं जिन्हें देश के जागरण की अनुभूति है। वे भारतीय संस्कृति और भारतीयता के अटल उपासक हैं और उन्हें अपने देश के गौरव का गर्व और अभिमान है। वे 'वैशाली', 'बोधिसत्व', 'मिथिला' जैसी अपनी रचनाओं द्वारा बिहार प्रांत की अवशेष स्मृतियों का चित्रांकन बड़ी कुशलतापूर्वक करते हैं और उनकी प्रत्येक पंक्ति में आत्मीयता प्रकट होती है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'हिमालय के प्रति' में उन्होंने अपनी भारत-भक्ति को सजीव बना दिया है। इसमें उनके हृदय की वह कसक साकार बनकर प्रत्यक्ष हुई है जिसका अनुभव उन्हें अपने देश के अतीत गौरव का ह्रास होते देखकर बार-बार हुआ करता है। किंतु उन्हें भारत के भविष्य में भी विश्वास है जिसके बल पर वे हिमालय के प्रति इस प्रकार कहते हैं,

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार दिव्य गौरव विराट!
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!

**   **   **

---

[1] **'हिन्दी कविता का क्रान्ति युग', पृ० ३०१**

[2] **वही, पृ० ३००**

ओ, मौन तपस्या लीन यती!
पल भर को तो कर दृगोन्मेष!
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश!
*** * ***
तू मौन त्याग, कर सिंह नाद
रे तपी! आज तप का न काल,
नव युग शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल![१]

'दिनकर' जी को अपने देश की दुरवस्था की बड़ी ही तीव्र अनुभूति है और अपने यहाँ के दरिद्र बच्चों की भूख का निवारण करने के प्रयत्न में वे भी स्वर्ग तक को ललकार उठते हैं। वे कहते हैं,

हटो पंथ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
वत्स, वत्स, ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक सजीव काव्य मे, इसी प्रकार अपना आदर्श व्यक्त करते हुए वे कहते हैं——

स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'दिनकर' जी की पंक्ति "धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति मे" की स्पष्टतर ध्वनि हिन्दी के उन कवियों की रचनाओ में विशेष रूप से सुन पड़ती है जो गांधीवादी विचारधारा द्वारा अधिक प्रभावित कहे जाते हैं और जिनमें श्री सियारामशरण गुप्त प्रधान है। उनकी 'बापू' नामक रचना में गांधीवाद की आत्मा मुखरित हो उठी है और वे उनके प्रति कहते हैं——

---

[१] 'आधुनिक काव्य संग्रह' (हिंदी सा० सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ११३-७

छोटे से क्षितिज हे,
वसुधा के निज हे,
वसुधा तुम्हारे बीच स्वर्ग में समुन्नत है,
स्वर्ग वसुधा में समागत है,
आकर तुम्हारे नये संगम में
लघु अवतीर्ण है महत्तम में॥[1]

जिसकी व्याख्या 'दिनकर' जी की इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप में हो जाती है; जैसे,

पृथ्वी हो साम्राज्य स्नेह का, जीवन स्निग्ध सरल हो,
मनुज प्रकृति से विदा सदा को दाहक द्वेष गरल हो।
बहे प्रेम की धार, मनुज को वह अनवरत भिगोये,
एक दूसरे के उर में नर प्रेम बीज का बोये॥ इत्यादि

यही विश्व-प्रेम का मुख्य संदेश है जिसमें मानवता का सर्वोच्च आदर्श निहित है और जिसे संसार के महान् पुरुषों ने समय-समय पर दिया है। कुरुक्षेत्र की विजय के पश्चात् विश्व की समस्याओं पर विचार करने वालों ने भी अंत में यही निष्कर्ष निकाला था और यही बापू का भी ध्येय रहा। हिंदी के एक अन्य राष्ट्रीय कवि श्री सोहनलाल द्विवेदी की रचनाओं में भी हमें इस भावना की झलक मिलती है। आधुनिक राष्ट्रीयता का भाव वस्तुतः योरप की देन है जो वहाँ के भिन्न-भिन्न देशों में पारस्परिक संघर्ष का परिणाम होने के कारण सीमित और संकीर्ण है। उसमें 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' की स्थापना एवं सामूहिक प्रबंधकी योजना से भी वह परिणाम निकलना नहीं दीखता जो उपर्युक्त शब्दों द्वारा प्रकट होता है और जिसे अपनाने की ओर योरपीय देशों के निवासी अभी तक उन्मुख होते नहीं जान पड़ते।

---

[1] 'हिन्दी कविता का क्रान्ति युग' ('सुधीन्द्र', जयपुर), पृ० २८४

श्री सोहनलाल द्विवेदी को भारतीय महापुरुषों के प्रति भी बड़ी श्रद्धा है और वे उन वीरों के प्रति अपने भावों को बड़ी आत्मीयता के साथ प्रकट करते हुए जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए वे अपनी 'राणा प्रताप के प्रति' शीर्षक कविता में कहते हैं—

मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो मेरे आँसू की धारों में,
मेरे प्रताप, तुम गूँज उठो मेरी संतप्त पुकारों में,
मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो मेरे उत्पीड़न भारों से,
मेरे प्रताप, तुम निखर पड़ो मेरे बलि के उपहारों से।[1]

इसी प्रकार महात्मा गांधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व का चित्र खींचते हुए भी लिखते हैं—

चल पड़े जिधर दो डगमग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
पड़ गयी जिधर भी एक दृष्टि, गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।

और उनकी युग भाग्यविधायिनी वाणी तथा युगनिर्माण कार्य के विषय में बतलाते हैं—

तुम बोल उठे युग बोल उठा, तुम मौन बने युग मौन बना,
कुछ कर्म तुम्हारे कर संचित, युग कर्म जगा युग धर्म बना,
युग परिवर्त्तक युग संस्थापक, युग संचालक हे युगाधार!
युग निर्माता, युगमूर्ति! तुम्हें युग युग तक युग का नमस्कार![2]

देश के प्राचीन अथवा आधुनिक वीरों एवं नेताओं के सम्मान में इस काल के अन्य हिंदी कवियों ने भी रचनाएं की हैं तथा स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीय भाव के विषय को न्यूनाधिक अपनाने की चेष्टा की है। ऐसे कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि

---

[1] 'भैरवी' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ३६

[2] वही, पृ० २-३

वे इस प्रकार की कविता द्विवेदी युग से ही लिखते आ रहे हैं और इस समय भी प्रायः उसी धुन में लगे हुए हैं ।

प्रेम के विषय से संबंध रखनेवाली कविता के रचयिताओं में एक नाम श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का भी प्रसिद्ध है जिनका जन्म सं० १९६१ में हुआ था और जिनके देहांत को अभी तीन-चार वर्षों से अधिक नहीं हुए होंगे। इस कवयित्री ने एक भारतीय नारी का शुद्ध और सच्चा हृदय पाया था और यह अपने भावों को सरस एवं सुंदर शब्दों द्वारा व्यक्त करने की क्षमता भी रखती थी । सुभद्राकुमारी चौहान की उपलब्ध कविताओं की संख्या अधिक नहीं है, किंतु वे तीन प्रकार के शीर्षकों में रखी जा सकती हैं जो राष्ट्रीय भाव, दाम्पत्यभाव तथा वात्सल्यभाव के हैं । राष्ट्रीय भाव की रचनाओं में उन्होंने एक भारतीय वीर बाला के हृदय का परिचय दिया है। वे अपनी 'मातृ-मन्दिर' शीर्षक रचना में एक स्वदेश-प्रेमिका के रूप में दीख पड़ती हैं और अपनी प्यारी मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को प्रस्तुत हैं । वे कहती हैं--

चलूँ, मैं जल्दी से चढ़ चलूँ
देख लूं, माँ की प्यारी मूर्ति !
अहा ! वह मीठी सी मुसकान
जगाती होगी न्यारी स्फूर्ति ।।

** ** **

न होने दूँगी अत्याचार
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार
चढ़ा दो मुझको हे भगवान् ।।[1]

[1] 'मुकुल' (भारत प्रकाशन, जबलपुर), पृ० १०२-३

इसी प्रकार वे 'विजयादशमी' के उपलक्ष्य में लिखती हुई कह उठती है—

सबलों को कुछ सीख सिखाओ
मरे करें उद्धार सखी!
दानव दल दें, पाप मसल दें
मेटें अत्याचार सखी!
सबल पुरुष यदि भीरु बनें
तो हमको दे वरदान सखी!
अबलाएं उठ पड़ें देश में,
करें युद्ध घमसान सखी।।[१]

उनकी 'झाँसी की रानी' शीर्षक रचना भी उनके ऐसे भावों के लिए अत्यंत लोकप्रिय बन गई थी और उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रायः प्रत्येक देशप्रेमी के मुख से बहुत दिनों तक सुनने को आती रही—

चमक उठी सन सत्तावन मे, वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।[२]

इनकी 'वीरों का कैसा हो वसन्त?' एवं 'जालियाँवाले बाग मे वसत' शीर्षक कविताओं में इनके हृदय का स्वदेशानुराग बडे सुदर ढग से प्रकट किया गया है और उनकी पक्तियों मे करुणरस की भी ध्वनि सुन पडती है।

इन्होंने अपनी दाम्पत्य भाव की कविताएं कदाचित् सबसे पहले लिखी थी और उनमे अपने हृदय की सरलता का स्वाभाविक चित्रण किया था।

---

[१] **'मुकुल' (भा०प्र०) पृ० ९३-४**
[२] **वही, पृ० ६४**

अपने प्रियतम के कहीं प्रवास में जाते समय किसी प्रेमिका के हृदय की क्या दशा होती है उसका परिचय कई हिन्दी के कवियों ने दिया है। भारतेन्दु का 'रोकहुं जो तो अमंगल होय' से आरंभ होनेवाला सवैया इसके सुंदर उदाहरणों में दिया जाता है किंतु सुभद्रा जी की 'चलते समय' शीर्षक कविता उससे किसी प्रकार भी न्यून नहीं कही जा सकती। उसमें ये कहती हैं—

तुम मुझे पूछते हो "जाऊँ"?
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो!
'जा...' कहते रुकती है जबान,
किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो?[1] **इत्यादि।**

इसमे सीधे-सादे शब्दों द्वारा प्रेम भरी विवशताका चित्रण किया गया है। इसी प्रकार इन्होंने अपनी 'प्रियतम से' की पंक्तियों में कहा है,

मैं भूलों की भरी पिटारी
और दया के तुम आगार।
सदा दिखाई दो तुम हँसते
चाहे मुझसे करो न प्यार॥[2]

जो पतिप्राणा भारतीय नारी के हृदय का एक मधुरतम अनुरोध व्यक्त करती है। सुभद्रा जी ने अपना आदर्श राधा को मान रखा था और 'मानिनि राधे' के प्रति इस प्रकार कहा था,

थी मेरा आदर्श बालकपन से
तुम मानिनि राधे!
तुमसी बन जाने को मैंने
व्रत नियमादिक साधे॥[3]

---

[1] 'मुकुल' (भारत प्रकाशन, जबलपुर), पृ० २०
[2] वही, पृ० ४१
वही, पृ० ४२

किंतु अंत में उन्हें पूर्ण शांति नही मिल पाई थी जिस कारण उसी कविता मे उन्होंने यह भी कहा था,

ले आदर्श तुम्हारा, रह रह
मन को समझाती हूँ।
किन्तु बदलते भाव न मेरे
शान्ति नहीं पाती हूँ॥[1]

फिर भी उनके आत्म-समर्पण का भाव अत्यंत गहरा और सच्चा था जो नीचे की कुछ पंक्तियों से भी प्रकट हो जाता है,

मैं उन्मत्त प्रेम का प्यासा
हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है,
इसे चढ़ाने आयी हूँ॥
चरणों पर अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है,
ठुकरा दो या प्यार करो॥[2]

सुभद्रा जी ने अपनी वात्सल्यभाव की कविताओं मे भी इसी प्रकार मातृ हृदय का चित्र बडे सजीव शब्दो द्वारा अंकित किया है,

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी
यह छोटी सी कुटिया मेरी॥

** ** **

---

[1] 'मुकुल' (भा० प्र०) पृ० ४५

[2] वही, पृ० २६

पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देख कर
मुझमें नव जीवन आया॥[1]

फिर अपनी 'बालिका का परिचय' नामक कविता में ये कहती हैं,

बीते हुए बालकपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है।
वही मचलना, वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है॥
मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
काबा काशी यह मेरी।
पूजा पाठ, ध्यान जप तप है
घट घट वासी यह मेरी॥इत्यादि[2]

इनका हृदय उस बालिका के प्रति इतना तन्मय है कि ये उसकी प्रत्येक चेष्टा में एक आनन्द का ही अनुभव करती दीख पड़ती है। उस बालिका के रुदन तक में इन्होंने एक विचित्र भाव की झलक पाई है और 'इसका रोना' शीर्षक कविता में ये कहती हैं—

तुम कहते हो मुझको इसका—
रोना नहीं सुहाता है।
मैं कहती हूँ, इस रोने से
अनुपम सुख छा जाता है॥
सच कहती हूँ इस रोने की
छवि को जरा निहारोगे।

---

[1] 'मुकुल' (भारत प्रकाशन, जबलपुर), पृ० ५७-८

[2] वही, पृ० ५९-६०

बड़ी बड़ी आँसू की बूँदों—
पर मुक्तावलि वारोगे।।
ये नन्हें से ओंठ और
यह लम्बी सी सिसकी देखो।
यह छोटा सा गला और
यह गहरी सी हिचकी देखो।।[1] इत्यादि

जिसमें केवल सूक्ष्म निरीक्षण ही नहीं, किंतु गंभीर वात्सल्य भाव भी स्पष्ट है।

सुभद्राकुमारी चौहान की-सी ही सरल एवं आडम्बरहीन भाषा में कविता करने वाले इस काल के एक अन्य कवि ठाकुर गोपालशरण सिंह भी हैं जिनका जन्म सं० १९४९ में हुआ था और जो कुछ दृष्टियों से द्विवेदी युगीन कवि भी कहे जा सकते हैं। ठाकुर साहब की एक बहुत बडी विशेषता उनके अलौकिक प्रेम के उस रूप में लक्षित होती है जो वस्तुतः इस धरातल के ही वातावरण में व्यक्त और प्रस्फुटित होता है। वे अपने जीवन की जिस परिस्थिति में वर्त्तमान हैं उसीमें उन्हें अपने इष्टदेव के अस्तित्व का बोध किसी न किसी रूप में होता रहता है। वे स्वयं भी कहते हैं, 'विश्व की अखिल छवि मे अनन्त का आभास और प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों में परोक्ष सत्ता की अनुभूति मेरी अनेक रचनाओं में प्रकट होती है'[2] और इस 'रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति' की परिपुष्टि का कारण वे रवि बाबू के ग्रन्थोंका अनुशीलन ठहराते हैं। फिर भी उन्हें इसके लिए अपना कोई आध्यात्मिक आदर्श ढूँढना नही पड़ता और न उसके लिए कोई अपना मनोराज्य ही निर्मित करना पडता है। वे अपनी इस अनुभूति की ओर संकेत करते समय कभी-कभी इस प्रकार भी कहते हैं—

---

[1] 'मुकुल' (भा० प्र०) पृ० ६१-२

[2] गोपालशरण सिंह (आधुनिक कवि), पृ० २

मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसीसे उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसीको मंजु मोर है॥
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़ कर जाता भृंग वृन्द जिस ओर है।
कैसा अचरज है कि मैं न जान पाया कभी,
मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्त चोर है॥[1]

जब वे उसके वियोग की भावना का अनुभव करते हैं तो उसके प्रति इस प्रकार कह उठते हैं—

पहले तुझे मैं बस एक ठौर देखता था,
देखता हूँ सब ठौर तुझको जुदाई मे।

तथा अपनी 'मानस की पीर' का परिचय देते हुए बतलाते है—

एक क्षण भी है उसे भूलने न देती कभी,
धन्य धन्य धन्य मेरे मानस की पीर है।

विरहानुभूति के कारण 'वनरोदन' करनेवाली किसी प्रेमिका द्वारा वे इस प्रकार भी कहला देते है,

विफल नहीं है वनरोदन!
उसको सदा सुना करते है कान लगा कर सुमन सुमन।
सजनी, रो रोकर मैं कर दूं क्यों न भला गुंजित कानन?
सुनता होगा किसी कुंज में छिप कर मेरा जीवन धन।[2]

---

[1] गोपालशरण सिंह (आधुनिक कवि), पृ० १

[2] वही, पृ० ३५

अपने उस 'चित्त-चोर' अथवा 'जीवन-धन' को उन्होंने कहीं-कहीं पर 'अज्ञात' नाम से भी अभिहित किया है और उसके निमित्त नित्य प्रति बढ़ती जानेवाली अपनी अभिलाषा के कारण का भी अपूर्व एवं विचित्र होना ही ठहराया है। उन्हे इस बात में आश्चर्य है कि क्यों,

मचल रहा है मन मत्त हो उसीके लिए,
यद्यपि उसीका सदा मन में निवास है।
रूप-सुधा पान से न नेक भी हुई है कम,
प्रत्युत हुई है तीव्र कैसी यह प्यास है॥
ज्यों-ज्यों यह चित्त चित्त-चोर से हटाया जाता,
त्यों-त्यों यह खिचता उसीके और पास है।
चढ़ गया और प्रेम पारा देखने से उसे,
बढ़ गया और देखने का अभिलाष है॥[१]

ठाकुर साहब ने प्रेम को 'अनन्त' का विशेषण दिया है और उसे 'अखिल विश्व के प्राणाधार' एवं 'जगजीवन सार' कहकर संबोधित किया है। अपनी 'अनन्त प्रेम' शीर्षक कविता में उन्होंने उसकी इस अनन्तता का कारण भी विस्तार के साथ दिया है। वे उसे 'आदि पुरुष का प्रथम विचार' ठहराते है तथा 'स्वयंसिद्ध अधिकार' मानते हैं और कहते हैं कि वही इस विश्व-सुन्दरी का 'शृंगार' है, विश्वछवि का 'अभिसार' है और विश्व विपञ्ची की 'झंकार' भी है तथा, यदि सच पूछा जाय तो, उसीको जगनाटक का 'सूत्रधार' भी कहना चाहिए। अतएव वे एक 'विश्वप्रेमी' बनकर कहते हैं,

रहूँ भले ही मैं उदास, पर विश्व कभी न उदास रहे,
अन्धकार मेरे उर तल का, बस मेरे ही पास रहे।
तुम पर हो विश्वास मुझे पर, अपना भी विश्वास रहे,
पृथ्वी पर ही तेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे॥

---

[१] गोपालशरण सिंह (आ० क०) पृ० ४

ठाकुर साहब की शैली में काव्य-रचना करनेवालों में लक्ष्मणसिंह 'मयंक' एवं पं० रामनरेश त्रिपाठी के भी नाम लिये जा सकते हैं। उनमें राष्ट्रीय भाव अधिक है।

ठाकुर गोपालशरण सिंह के ही समवयस्क श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त' हैं जो अपनी प्राकृतिक सौंदर्य-संबंधी कविताओं के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रकृति की नन्हीं से नन्ही वस्तु इस कवि का ध्यान बरबस खींच लेती है और वह उसमें छिपी मनोहरता के व्यक्तीकरण में लग जाता है। प्रकृति एवं मानव के पारस्परिक संबंध की घनिष्ठता में उसे पूर्ण विश्वास है और वह अपनी रचनाओं में इसकी ओर संकेत प्रायः सदा किया करता है। 'भक्त' जी की यह विशेषता न केवल उनके दृश्यों के वर्णनों में ही दीख पड़ती है, अपितु उसके अनेक उदाहरण हमें अन्यत्र भी मिल जाया करते हैं। उन्होंने दिल्ली के प्रसिद्ध बादशाह जहाँगीर की प्रेयसी नूरजहाँ के विषय में उसी नाम का एक महाकाव्य लिखा है जिसमें, उसके शैशवकाल के क्रमिक विकास का वर्णन करते हुए, वे एक स्थल पर कहते हैं—

दिनकर ने निज कर दे दे, मैत्री का हाथ बढ़ाया।
हिमकर ने सींच सुधा से, नवजीवन दे सरसाया॥
आ आ कर सब ऋतुओं ने, अपना शृंगार सजाया।
संध्या ने लोरी गाई, ऊषा ने उसे जगाया॥
वह मधुर नवेली बाला अंकुर सी बढ़ती जाती।
जीवन दे सींचा करती माता की निर्भर छाती॥[१] इत्यादि

वे स्नेहादि की व्याख्या करते समय भी अपने विषय का स्पष्टीकरण अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं के ही दृष्टांत देकर किया करते हैं; जैसे,

स्नेह परस्पर होता है, दो हृदय एक हो मिलते जब।
नव रवि-कर आ आ दुलारते, हृदय कमल हैं खिलते तब॥

---

१ 'नूरजहाँ' (कालका सदन, बलिया), पृ० १९

** ** **

वर तरु से लतिका सी तरुणी, लिपट एक हो जाती है।
उसके ही सँग अपनी लीला, कर समाप्त सो जाती है॥[1]

परंतु जहाँगीर एव नूरजहाँ का प्रेम स्वभावतः नितांत पार्थिव तथा शामी संस्कृति-जन्य विलासप्रियता द्वारा प्रभावित है जिसका परिचय 'भक्त' जी की इन पंक्तियों द्वारा मिलता है—

राज्य करो तुम मूर्ति तुम्हारी रहूँ देखता मै प्रति याम।
अपने हाथों से नित केवल मुझे पिला देना दो जाम॥
भार वहन मै स्वयं करूँगा बन कर वन गुलाब की मूल।
तुम तो मुझ पर 'कलम' रहोगी, शीश तुम्हारे होगा फूल॥

** ** **

तुम केवल यह ताज पहन कर, मेरे सम्मुख खिली रहो।
मै अपनापन तुममें खो दूँ, तुम मुझमें ही मिली रहो॥
हो प्रसन्न जीवन को मेरे, मुस्कानों से दो तुम भर।
रानी नूरजहाँ बन अब तुम, चमको जग में प्रिये मेहर॥[2]

महाकाव्यों की रचना करनेवाले एक अन्य कवि श्री अनूप शर्मा (ज० सं० १९५६) है जो अधिकतर प्राचीन शैली मे ही कविता करते है। उनका 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य १८ सर्गो का एक बृहद् प्रबंध काव्य है जिसमें गौतम बुद्ध के जीवन वृत्त का वर्णन किया गया है। 'यशोधरा' में 'गुप्त जी' ने केवल यशोधरा के ही चरित्र का चित्रण विशेष रूप से किया है, किंतु 'सिद्धार्थ' में 'अनूप' जी ने सिद्धार्थ को उससे भी अधिक महत्त्व दिया है और उनके यौवनोचित मानवीय मनोविकारों का भी अंकन विस्तार-पूर्वक किया है। इसी प्रसंग में कवि ने एक स्थल पर अपने दाम्पत्य-प्रेम

---

[1] **'नूरजहाँ' (का० स०) पृ० ८९-९०**

[2] **वही, पृ० १४५**

विषयक विचारों को भी व्यक्त किया है जो वस्तुत परम्परागत होने पर भी उल्लेखनीय है । कवि कहता है—

भू में है तरुणी असंख्य प्रमदा दिव्या कुरंगाम्बका,
भोगी भी बहु है निकेत बल के, आगार शृंगार के,
पाता, किन्तु वही महान प्रणयी संभोग का योग है,
जो विस्तार करे प्रमोदवश हो तादात्म्य के भाव का।
कन्या सुन्दर काम रंग रचती अंगांग में है यदा,
आती है रति रेख भी युवक के उत्फुल्ल नेत्राब्ज में,
व्रीड़ा कामिनि की युवा हृदय का संकोच, दोनों तदा
होते स्वर्ग्य प्रकाश से सुरभि से सारंग से दिव्य है।
देखो, अम्बुधि एक अश्रु कण मे, ब्रह्मांड एकाणु मे,
ढाई अक्षर मे महान् बुधता, आकाश का सार मे,
सारा विस्तृत काल एक पल मे देखो यहाँ बद्ध है,
केन्द्रीभूत समस्त दुःख सुख हो व्यापे इसी प्रेम मे।
प्रेमी का बस एक प्रेम पथ है, जो दीर्घ दुर्लंघ्य है,
धारा है असि की कराल अथवा तीव्रा अणी कुंतकी,
झंझावात समान चितवन की शाखा प्रशाखा हिला
जो प्रेमी शिर पै किरीट रखता, शूली चढ़ाता वही।[1] **इ०**

इससे प्रकट होता है कि उसने अपनी रचना पद्धति को प्राचीन बनाये रखते हुए भी विषय का प्रतिपादन आधुनिक ढग मे ही किया है। इसी प्रकार यशोधरा के विरह-प्रलाप का वर्णन करने समय भी अनूप जी अधिकतर केवल अपने मस्तिष्क से ही काम लेते प्रतीत होते है । उन्होने विरहिणी द्वारा अनेक वस्तुओ के प्रति अपने भाव व्यक्त कराये है और कही-कही पर उसकी दशा को दयनीय बना डाला है । वे कहते है—

---

[1] 'सिद्धार्थ' (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बंबई), पृ० ७६-७

धृति तुला पर जीवन-प्रेम को
सतत तौल रहे खलु प्राण थे,
गत हुआ लघु जीवन कठ में
हृदय में गुरु प्रेम टिका रहा।[१]

किंतु महाकाव्यो की रचना इस समय प्रधानत. प्रेम एव विरह का ही विषय लेकर नही की गई। प्रेम के गीत गानेवालो की अधिक सख्या फुट-कर काव्य के रचयिताओ मे दीख पडी और वे भी अधिकतर अपने-अपने निराले ढग से ही लिखते पाये गए। राधा एव कृष्ण के प्रणय का परपरा-गत कीर्त्तन भी इस काल के कवि सम्मेलनो तक मे बहुत कम देखा गया। उसका स्थान क्रमश व्यक्तिगत प्रेम एव विरह के उद्गारो ने ले लिया और आधुनिक वातावरण द्वारा प्रभावित प्रत्येक व्यक्ति स्वानुभूति प्रदर्शक बन गया। इन कवियो के प्रेम का लक्ष्य कोई ऐसी सत्ता रहा करती जिसे बार-बार व्यक्तित्त्व प्रदान करने पर भी वे उसका स्पष्ट परिचय स्वय भी नही दे पाते। प्रेम की जिस आसक्ति का कभी रूप दर्शन, गुणश्रवण आदि के आधार पर जागृत होना समझा जाता था वह अब कोरी काल्पनिक भाव-नाओ के साहचर्य की ओर इगित करने लगी और इन कवियो द्वारा निर्मित ससार की बाते अभौतिक स्वप्न-जाल-सी जान पडने लगी। इन प्रेमी कवियो के प्रेमास्पदो के विषय मे बहुधा अनेक प्रकार के अनुमानो का आश्रय लिया जाता था। कुछ लोग उन्हे अलौकिक प्रेम का साधक समझकर उनके प्रेम पात्र को भगवान् का कोई न कोई प्रतीक मान बैठते अथवा कभी-कभी इस प्रकार की भी कल्पना करने लगते कि वह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके प्रति उसका कुछ वास्तविक सबध अवश्य है, किंतु जिसे वह किसी कारण गुप्त ही रखना चाहता है। इसके सिवाय इस प्रकार की रचनाओ के लिए एक विशिष्ट शब्दावली तक बनकर तैयार हो गई और इन कवियो की एक

---

[१] 'सिद्धार्थ' (हि० ग्र० का०) पृ० २४४

नवीन वर्णन-शैली चल पड़ी जो पूर्व प्रचलित रचना पद्धति से नितांत भिन्न थी तथा जिसमें लौकिक एवं अलौकिक प्रेम के बीच रेखा खींचना कठिन था।

हरिवंशराय 'बच्चन' ने ऐसे ही समय में फ़ारसी कवि उमरखय्याम की प्रसिद्ध कविताओं का हिन्दी रूपांतर किया। उनका अनुवाद, वास्तव में फिट्सजेरल्ड के अंग्रेजी भावानुवाद का भी भावानुवाद था, किन्तु हिन्दी के लिए वह एक नूतन देन सिद्ध हुआ। हिन्दी के पाठकों ने उसका स्वागत किया जिससे उत्साहित होकर श्री 'बच्चन' ने अपनी 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधु-कलश' नामक वैसी अपनी मौलिक रचनाएं भी प्रस्तुत कर दीं और इस प्रकार हिंदी-काव्य के क्षेत्र में 'हालावाद' अवतीर्ण हो गया। 'मधुशाला' श्री बच्चन की ऐसी सर्वप्रथम मौलिक रचना थी जिसमें उन्होंने 'मदिरालय', 'मधुबाला', 'प्याला', 'हाला', आदि शब्दों का व्यवहार किया। इस कारण कुछ पाठकों ने उसे सीधे मदिरावाद का प्रचार करनेवाली रचना मान लिया और दूसरों ने उसकी पंक्तियों की आध्यात्मिक व्याख्या करके उसे, जीवन-दर्शन को ठीक-ठीक समझने के लिए, एक सुंदर साधन के रूप में स्वीकार किया। श्री 'बच्चन' की 'मधुबाला' एवं 'मधुकलश' का भी स्वागत उसी प्रकार हुआ और इस कवि ने इस काल में अपना एक स्थान ग्रहण कर लिया। श्री 'बच्चन' की लोकप्रियता का एक विशेष कारण उनकी वर्णन-शैली की सरलता और प्रवाह में भी पाया जा सकता है। वे अपनी बातें सीधे-सादे ढंग से कहते हैं और उनमें धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णता के विरुद्ध अपना स्वर भी फूँकते चलते हैं।

श्री 'बच्चन' ने अपनी कविताओं में जो कहीं-कहीं पर प्रेम भाव के निदर्शन में लिखा है वहाँ स्पष्ट और खुले शब्दों में भी कहा है। वे कहते हैं—

आज सजीव बना लो प्रेयसि!
अपने अधरों का प्याला,

भर लो भर लो भर लो इसमें
यौवन मधुरस की हाला,
और लगा मेरे अधरों से
भूल हटाना तुम जाओ,
अथक बनूं मैं पीने वाला
खुले प्रणय की मधुशाला ॥[१]

वे प्रेम के विरह-पक्ष के महत्त्व को भी भलीभाँति पहचानते हैं और प्रेमास्पद के मिलन से अधिक उसके वियोग की सराहना करते हैं; जैसे,

उस प्याले से प्यार मुझे जो
दूर हथेली से प्याला,
उस हाला से चाव मुझे है
दूर अधर से जो हाला;
प्यार नहीं पा जाने में है,
पाने के अरमानों में !
पा जाता तब हाय, न इतनी
प्यारी लगती मधुशाला ॥[२]

श्री 'बच्चन' ने इन पंक्तियों द्वारा उस भावना का समर्थन किया है जिसके अनुसार प्रकृति की प्रत्येक वस्तु किसी धुन में लगी जान पड़ती है। जगत् के भीतर उन्होंने स्वयं भी इस बात का अनुभव किया है और अपनी अन्य रचनाओं की अनेक पंक्तियों में इसे प्रकट भी किया है। वे इस जगत् के 'रसमय' होने में भी विश्वास करते जान पड़ते हैं, किंतु इसके लिए, उनके अनुसार, हमारा 'रसिक' भी हो जाना आवश्यक है। उनका कहना है—

---

१ 'मधुशाला' (लीडर प्रेस, प्रयाग), पद्य ६३
२ वही, पद्य ९९

जितनी दिल की गहराई हो
उतना गहरा है प्याला,
जितनी मन की मादकता हो
उतनी मादक है हाला,
जितनी उर की भावुकता हो
उतना सुंदर साक़ी है,
जितना ही जो रसिक, उसे है
उतनी रसमय मधुशाला॥[1]

और इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन दर्शन की भी एक झांकी दे दी है।

श्री 'बच्चन' प्रेम की महत्ता से पूर्णतः परिचित हैं और वे इसके प्रभाव को संसार के सृष्टिगत व्यापारों में भी इस प्रकार देखते हैं—

यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में
सुप्त होती विश्व की संपूर्ण सत्ता,
वह मरण की नींद होती जड़ भयंकर
और उसका टूटता होता असंभव,
प्यार से संसार सो कर जागता है,
इसलिए है प्यार की जग में महत्ता[2] इत्यादि

फिर भी वे उसकी असमर्थता की करुण कथा कहते हैं और हमें दिखलाते हैं,

चाँद कितनी दूर है, वह जानता है
और अपनी हद्द भी पहचानता है,

---

[1] 'मधुशाला' (लीडर प्रेस, प्रयाग), पद्य १२८
[2] 'मिलनयामिनी' (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी), पृ० १३६

हाथ इस पर उठाता ही वरुण है;
प्यार की असमर्थता कितनी करुण है !

** ** **

जो असंभव है उसी पर आँख मेरी,
चाहती होना अमर मृत राख मेरी,
प्यास की साँसें बचीं, बस यह शकुन है;
प्यार की असमर्थता कितनी करुण है ! [१]

वे प्रेम के भीतर वह मिठास पाते है जिसके सामने उसके विरह-पक्ष का कोई भी कष्ट उन्हें दुखदायक प्रतीत नहीं होता और वे इसी कारण कहते हैं,

साँस में उत्तप्त आँधी चल रही है,
किंतु मुझको आज मलयानिल यही है,
प्यार के शर की शरण भी तो मधुर है;
प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है। [२]

श्री 'बच्चन' के हालावाद के अनुसार इस जगत् में जो कुछ आनंद का अंश है वही हमारे लिए 'हाला' अर्थात् 'मधु' है, जो उसका आधार है उसीको हम उसका पात्र वा 'प्याला' मान सकते हैं और जो उसका मूल स्रोत है उसे 'मधुबाला' के रूप में देख सकते है। यह जगत् हमारे लिए, इसी कारण, एक 'मधुशाला' का महत्त्व रखता है और हम उपर्युक्त मधु की मादकता के लिए नित्य प्रयत्नशील रहा करते है।

श्री 'बच्चन' के 'हालावाद' का समर्थन उनके ही शब्दों में किसी भी अन्य कवि ने नही किया। उमरखय्याम के तथाकथित 'भोगवाद' एवं

---

१ 'मिलन यामिनी' (भा० ज्ञा०) पृ० २०

२ वही, पृ० ४३

'निराशावाद' की छाया हिन्दी के कई वर्त्तमान कवियों पर भी किसी न किसी रूप में दीख पड़ती है किंतु उनकी वर्णन-शैली भिन्न है। श्री 'बच्चन' मे 'हालावाद' के ठीक पीछे 'निराशावाद' की प्रतिक्रिया हुई और तब उनमे 'भोगवाद' की पूर्ण अभिव्यक्ति दीख पडी। परन्तु अन्य इस प्रकार के कवियो मे यह क्रम भी उसी प्रकार लक्षित नही होता। दरभगा के श्री आरसी प्रसाद सिंह ने 'हाला' और 'हलाहल' दोनो को लेकर कुछ कविताए की है और वे अपनी कृत्तियों में उक्त दोनो 'वादों' का परिचय भी देते है। किन्तु अपने हृदय से वे एक धार्मिक व्यक्ति जान पड़ते है जिस कारण उनके प्रेम की 'अलौकिकता' उन्हें नितात निराधार बन जाने से बचा लेती है। वे कहते है

हँस विहँस लो हे सुहासिनि, हँस विहँस लो आज;
हाय ठुकराओ न योंही निखिल जग का राज!
खेल लो उर की उमंगों से, मधुर साकार;
फिर न आवेगी निशा यह—फिर न यह संसार!
फुल्ल निधुवन-शर्वरी मे आज कैसी लाज?
आज हँस लो हे सुहासिनि, हँस विहँस लो आज।[१]

किंतु उन्हें अपने प्रियतम के 'मौन मिलन' की भी अनुभूति है और वे प्रकृति एवं मानव के दैनिक व्यापारों में भी उसकी आहट पाते रहते है। वे अपने प्रियतम के प्रति कहते है—

मर्मर बन में जब कि तुम्हारी वेणु रागिनी बज उठती!
ऋतुपति की मधुशाला सहसा एक बार फिर सज उठती!
नन्दित हो जाती पथ कणिका;
छू अवयव पद पारस मणि का!
चौंक चौंक उठते कर अनुभव
प्राण किसी की मृदु पग-ध्वनि का!

---

[१] 'कलापी' (ग्रंथमाला कार्यालय, पटना), पृ० १५४

वह अदृश्य, अस्पृश्य, सुखद रव, विह्वल हो रज-रज उठती।
मर्मर वन मे जब कि तुम्हारी वेणु रागिनी बज उठती।[१]

वे, इसीलिए, इस प्रकार की याचना भी अन्यत्र करते है—

माँगता यह प्रेम भिक्षुक, कुछ अगर देना चहो;
मै मरूँ स्मृति में तुम्हारी—किंतु तुम सुख से रहो!
यह नहीं प्रियतम कि तुमको बैठ कर देखा करूँ,
बस गये जब तुम हृदय में, और क्या लेखा करूँ?
विश्व में करुणा जलद तब घन सजल रिमझिम करे;
और यह मेरा पपीहा रात दिन पीपी करे।[२]

प्रेम का भाव अत्यन्त रहस्यमय है जिस कारण उसकी इयत्ता एवं स्वरूप का पता स्वयं प्रेमी को भी चलना कठिन है। वह उसे जितना ही समझना चाहता है उतना ही उसे वह असीम और अपूर्व-सा प्रतीत होने लगता है। बिहार के ही राष्ट्रीय कवि 'दिनकर' ने, इसी कारण, कहा है—

कितना प्यार? जान मत यह सखि!
सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि
कितना प्यार जान मत यह सखि![३]

और उन्होंने दो ग्रामीण प्रेमियों का स्वाभाविक चित्रण भी इस प्रकार किया है—

दो प्रेमी है यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है

---

१ 'संचयिता' (बोस प्रेस, मुजफ्फरपुर), पृ० २२
२ वही, पृ० १०७
३ 'रसवन्ती' (सुन्दर साहित्य माला, लहेरियासराय), पृ० २६

पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है
'हुई न क्यों मै कड़ी गीत की
विधना', यों मन में गुनती है
वह गाता पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है?[१]

'दिनकर' जी की इन पंक्तियों में प्रेम के उस शुद्ध एवं सरल प्रवाह का परिचय मिलता है जो नितान्त मानवीय और स्वाभाविक है। इसमें कलुषित वासनाजन्य ऐन्द्रिय मनोविकारों का संमिश्रण नहीं है जिसका रूप बहुधा पाशविक और निम्नश्रेणी का बन जाता है। उस प्रकार के प्रेम द्वारा मानव के पावन कर्त्तव्यों पर प्रायः आघात पहुँचने की आशंका उठ खड़ी हो जाती है और वह अपने जीवन के पुनीत आदर्शों के लिए उसका बलिदान करने को तैयार हो जाता है। पं० सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी रचना 'वासवदत्ता' के कतिपय रेखा-चित्रों द्वारा प्रेम एवं कर्तव्य विषयक अन्तर्द्वंद तथा उसके अनन्तर प्रेम के ऊपर कर्त्तव्य की विजय के सुंदर दृष्टांत प्रस्तुत किये हैं और उन्होंने प्राय: उन सभीको अपने प्राचीन भारतीय साहित्य से ही लिया है। 'वासवदत्ता' वाले प्रसंग में एक युवती एवं रूपवती वेश्या गौतम बुद्ध का, अपने यहाँ अतिथि के रूप में स्वागत करना चाहती है, किंतु वे उसका आतिथ्य स्वीकार नहीं करते और "आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह में" कहकर उसकी बात उस समय टाल देते हैं। परंतु जब वह, अंत में, वृद्धा और कुरूपिणी बन जाती है तो वे स्वयं

[१] 'रसवन्ती' (सु० सा० मा०) पृ० १८

उसके द्वार पर पहुँच जाते हैं और "मैं हूँ तथागत" कहकर उसके रुग्ण शरीर को सहायता तक पहुँचाते हैं। इसी प्रकार उक्त रचना के 'उर्वशी' एवं 'कुणाल' विषयक प्रसंगों में कवि ने क्रमशः अर्जुन एवं कुणाल द्वारा उस कर्तव्य का परिचय दिलवाया है, जो अपनी मातृतुल्य स्त्रियों के कामवासना से पीड़ित हो जाने पर, किसी कर्त्तव्य परायण युवक के हृदय में आपसे आप जागृत हो उठता है और वह उसके लिए अपने ऊपर अभिशाप का कष्ट तक स्वीकार कर लेता है। 'कर्ण और कुन्ती' वाले प्रसंग में एक कर्तव्यशील पुत्र अपनी प्रिय जननी की माँगों को ठुकरा देता है; 'महाभिनिष्क्रमण' में एक कर्तव्यनिष्ठ युवक अपनी प्रियतमा नारी तथा स्नेहास्पद अबोध बच्चे का परित्याग कर देता है और 'सरदार चूड़ावत' में अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को समझ जाने वाली एक नारी, अपने रणोन्मुख पति के हृदय से, अपने प्रति जमते हुए, प्रेम भाव को दूर करने के लिए अपना शिरच्छेदन कर डालती है। यह नारी अभी अपने पतिगृह में 'दो चार दिन भी' नहीं रह पायी थी कि उसके हृदय में उपर्युक्त प्रेम एवं कर्त्तव्य विषयक अन्तर्द्वन्द उठ खड़ा हो गया और वह

सो गई परिणय की इस सुहागरात में;
सो गई मिलन के विरह-प्रभात में।[१]

---

[१] **'वासवदत्ता'** (इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद), पृ० २८

११. वर्त्तमानकालीन छायावादी काव्य

वर्तमान काल की हिन्दी-कविता जिस अपनी विशेषता के लिए सब से अधिक प्रसिद्ध रही है वह उसका छायावादी दृष्टिकोण है। यह प्रवृत्ति, सर्वप्रथम, हिंदी कवियों की उस अन्तर्मुखी वृत्ति से आरंभ हुई थी जो उसके भीतर, द्विवेदी युग की कतिपय सामाजिक एवं साहित्यिक विचारधाराओं के प्रति विद्रोह के कारण जग रही थी और जिसका परिचय उस युग की अंतिम रचनाओं में ही मिलने लगा था। उसमें न केवल परंपरागत रूढ़ियों के विरुद्ध विचार-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा थी, अपितु उसमें प्रचलित नैतिक सुधारों के प्रति शृंगारिकता का विरोध-भाव भी था। इसके सिवाय श्रद्धा का जो भाव उस समय तक देवत्व की ओर प्रदर्शित होता दीख रहा था वह अब क्रमशः मानवत्व की ओर उन्मुख होने लगा। जो प्रकृति, साहित्य में, कभी केवल उद्दीपन का ही काम करती आई थी वह स्वतन्त्र आलंबन का भी स्थान ग्रहण करने लगी और उस पर कवियों द्वारा बहुधा किये जाने वाले व्यक्तित्व के आरोप का भी ढंग नितांत नवीन हो गया। संक्षेप में प्रायः प्रत्येक प्रकार की स्थूलता में अब किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्मता का आभास मिलने लगा और इतिवृत्तात्मक रचनाओं से अधिक महत्त्व आत्माभिव्यक्ति को मिल गया। इस प्रवृत्ति का अभाव उन कवियों की प्रेमानुभूति और उसके व्यक्तीकरण पर भी यथेष्ट रूप में पड़ा। उनके प्रेमभाव में ऐंद्रीयता की मात्रा बहुत कम लक्षित होने लगी और वह उनकी भावनाओं के जगत् की वस्तु बन गया जिस कारण उनके लौकिक प्रेम का भी स्वरूप अलौकिक-सा दीखने लगा और उनके अलौकिक प्रेम पर भी भाव योग का रंग चढ़ गया जिसने उनकी वर्णन-शैली में रहस्यवाद ला दिया।

इस प्रवृत्ति का सर्वप्रथम परिचय देने वाले प्रमुख कवि बाबू जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६—१९९४) थे। उन्होंने भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रंथों का गहरा अध्ययन किया था और वे भारतीय संस्कृति के एक प्रबल समर्थक भी थे। इस कारण उनकी अनेक रचनाओं का विषय तदनुकूल ही होता गया और उन्होंने साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी लेखनी का कौशल दिखलाया। फिर भी उनके गीतों तथा अन्य काव्य रचनाओं में भी हमें इस उपर्युक्त विशेषता के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और वे हमें उसका स्पष्ट प्रतिनिधित्व करते हुए जान पड़ते हैं। 'प्रसाद' जी की ऐसी कविताओं में हमें उनकी इस मनोवृत्ति के क्रमिक विकास की एक रूप-रेखा भी मिलती है जिसके द्वारा हमें उस प्रवृत्ति के प्रायः प्रत्येक रूप का कुछ न कुछ परिचय मिल जाता है और प्रेम-भाव के उस चित्र का भी पता चलता है जिसे इस काल के कवियों ने अंकित किया है। 'प्रसाद' जी में प्रेम-भाव का अंकुर संभवतः उस काल में उगा था जब कि उन्हें सर्वप्रथम सौंदर्य की अनुभूति हुई थी और वे उसके विमुग्धकारी प्रभाव में आकर अपने ही भीतर की वस्तु का कोई स्पष्ट परिचय नहीं पा सकते थे। उन्हीं दिनों की 'नीरवप्रेम' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

नवल दम्पति केलि विनोद में।
जब विमोहित है नवमोद में॥
प्रथम भाषण ज्यों अधरान में।
रहत है तउ गूंजत प्रान में॥
तिमि कहौ तुमहूँ चुप धीर सों।
विमल नेह कथान गंभीर सों॥
कछु कहौ नहिं पै कहि जात हौ।
कछु लहौ नहिं पै लहि जात हौ॥[1] इत्यादि

---

[1] **'कानन कुसुम' (हिन्दी ग्रन्थ भण्डार कार्यालय, बनारस), पृ० १५**

इसी प्रकार वे उस समय की 'विस्मृत प्रेम'[1] एवं 'हृदय वेदना'[2] आदि जैसी कविताओं में भी कुछ इसी ढंग से गुनगुनाते हुए दीख पड़ते हैं।

परंतु इसी काल की कुछ कविताओं में वे किसी परोक्ष प्रियतम की भी अनुभूति का परिचय देते हुए जान पड़ते हैं । यह अनुमान होने लगता है कि उस सत्ता का अनुभव वे प्रकृति के विविध इंगितों और व्यापारों तथा मानव समाज के प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र अंग तक में करने को प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में क्रमशः व्यापकता और उदारता का समावेश होता जाता है और वह दृढ़ एवं संतुलित भी होता जाता है। प्रेम का स्वरूप इसके आगे आपसे आप निखरने लगता है और उस पर सात्त्विकपन एवं म.न-वीयता का रंग भी निरंतर चढ़ता चला जाता है। 'प्रसाद' जी ने अपने 'प्रेम पथिक' नामक एक छोटे-से प्रेमाख्यान में इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है। 'प्रेम पथिक' की कहानी के दोनों प्रेमी अपने बचपन से ही एक साथ खेलते और आमोद-प्रमोद करते हैं तथा वे दो शरीर किंतु एक प्रांण के समान हैं। किंतु कन्या का पिता उसका विवाह किसी अन्य युवक से कर देता है जिस कारण उसका बालस्नेही मित्र निराश होकर घर से निकल पड़ता है। अंत में भूलता-भटकता हुआ वह किसी दिन थककर एक तापसी की कुटी में जा पहुँचता है जो कुछ समय तक वार्तालाप करने पर उसकी पूर्व प्रेयसी ही सिद्ध होती है और इस प्रकार वे एक दूसरे से आपस में मिलकर 'उस सौंदर्य प्रेमनिधि' सागर की ओर दो सरिताओं की भाँति प्रवाहित होने का निश्चय करते हैं। कवि ने इन दोनों प्रेमियों की, फिर से पूर्ण परिचित हो जाने के पहले की, बातचीत में, तापसी द्वारा उस पथिक के प्रति कहलाया है—

---

[1] 'कानन कुसुम' (हि० ग्र० भ०) पृ० १७

[2] वही, पृ० २०

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है
सोच समझ कर जो चलता है वह पूरा व्यापारी है।

** ** **

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे;

** ** **

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।[1] इत्यादि

फिर,

प्रेम जगत का चालक है इसके आकर्षण में खिच के
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा

** ** **

इसका है सिद्धान्त मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतममय यह विश्व निरखता फिर उसको है विरह कहाँ।[2]

इसीलिए, आदर्श प्रेम का स्वरूप बतलाते हुए कहा है--

आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है॥[3]

---

[1] 'प्रेम पथिक' (हिन्दी ग्र० भण्डार कार्यालय, बनारस), पृ० १६
[2] वही, पृ० १६-७
[3] वही, पृ० २३

'प्रसाद' जी ने इस प्रकार प्रेम और उसके आदर्श का परिचय देकर अपने 'आँसू' नामक विरह काव्य में उसके विरह पक्ष का भी चित्रण किया है। 'आँसू' में उन्होंने अपनी निजी अनुभूति के आधार पर ऐसे मार्मिक चित्र खीचे हैं जो पाठक के हृदय पर अपना स्थायी प्रभाव डाल देते हैं। इसमें उनके किसी व्यतीत वैभव की एक सुंदर झाँकी मिलती है और उसके साथ-साथ उसके अभाव के कारण अनुभूत वेदना भी उपलब्ध होती है। 'आँसू' इस कवि की आत्म-कथा का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक सजीव रचना है जिसमें छायावादी दृष्टिकोण का भी पूर्ण विकास है। कवि की वेदना इस काल की प्रथम पंक्तियों से ही फूट निकलती हुई प्रतीत होती है। वह एक प्रश्न के रूप में आरंभ करता है—

> **इस करुणा-कलित हृदय में,**
> **अब विकल रागिनी बजती।**
> **क्यों हाहाकार स्वरों में**
> **वेदना असीम गरजती?**[१]

उसका परिचय देता हुआ वह कहता है,

> **शीतल ज्वाला जलती है**
> **ईंधन होता दृग जल का**
> **यह व्यर्थ साँस चल चलकर**
> **करती है काम अनिल का॥**

फिर बतलाता है,

> **बाडव ज्वाला सोती थी,**
> **इस प्रणय सिंधु के तल में।**
> **प्यासी मछली सी आँखें,**
> **थीं विकल रूप के जल में॥**

---

[१] 'आँसू' (भारती भण्डार, प्रयाग), पृ० ७

बुलबुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र मालिका टूटी।
नभमुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।।[१]

जिस कारण वह नितांत व्याकुल है और 'मधुर प्रेम की पीड़ा' का अनुभव करता है तथा करुण क्रंदन भी कर रहा है।

परंतु इस व्यथा भरी पुकार के होते हुए भी कवि का हृदय इसके कारण भग्न वा कुंठित भी नहीं होता दीखता। वह उस पीड़ा में भी किसी एक ऐसे रस का अनुभव करता है जो उसे निरंतर पुष्ट एवं जाग्रत बनाये रखता है। वह अपने 'चिर सुंदर' प्रियतम की स्मृति अपनी विरह-दशा में भी एक समान बनाये रखता है और निराशा में भी एक अपूर्व आशा का अनुभव करता है। उसे निश्चय है,

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का;
सुख-दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आंख का, मन का।[२]

* * *

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
संध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।।[३]

इसीलिए, उसका मानव समाज के प्रति इस काव्य द्वारा संदेश है—

---

[१] 'आँसू' (भा० भ०) पृ० १०
[२] वही, पृ० ४६]
[३] वही, पृ० ५६

ओ, मेरे प्रेम विहँसते,
जागो, मेरे मधुवन में,
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।[१]
हैं पड़ी हुई मुँह ढक कर,
मन की जितनी पीड़ाएं।
वे हँसने लगें सुमन सी,
करती कोमल क्रीड़ाएं॥[२] इत्यादि

अतएव, 'प्रसादजी' ने इस काव्य की विरह-व्यथा में भी किसी दुःखवाद की ओर संकेत नहीं किया है प्रत्युत इसमें उस अक्षय सुख एवं आनंद का ही स्वर भरा है जो उनके अनुसार शाश्वत सत्य का प्रतीक है।

'आँसू' के अतिरिक्त 'प्रसादजी' की 'कामायनी' भी एक ऐसी रचना है जिसमें 'छायावाद' अपनी पूर्णता तक पहुँचा है और जिसमें प्रेम-भाव के उदात्त रूप का दर्शन हमें बड़े सुंदर ढंग से कराया गया है। 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा का ही दूसरा नाम 'कामायिनी' है जो वस्तुतः काम एवं रति की पुत्री है और जिसमें, इसी कारण, उन दोनों के ही संयोग का परिणाम लक्षित होता है। 'काम' उस कामना का प्रतीक है जो सारी संसृति का मूल कारण है और काम की 'रति' वा तृप्ति का परिणाम ही श्रद्धा का रूप ग्रहण करता है। 'कामायनी' में मनु अथवा मन, का साहचर्य इडा एवं श्रद्धा दोनों से ही होता है, किंतु उसके प्रति इन दोनों का प्रेम भाव एक ही-सा नहीं है, श्रद्धा जहाँ मनु के प्रति सदा सात्विक प्रेम प्रदर्शित करती है वहाँ इडा का प्रेम हमें राजसिक रूप से ही काम करता जान पड़ता है। फिर भी हम मनु के प्रेम भाव को जो इन दोनों के प्रति व्यक्त होता है

---

[१] 'आँसू' (भारती भण्डार, प्रयाग), पृ० ६४

[२] वही, पृ० ७३

न तो सात्विक ही कह सकते है और न राजसिक ही। मनु एक परिवर्त्तनशील स्वभाव का व्यक्ति है जिसके प्रेम का स्तर कभी तामसिक वा निम्न कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता। किंतु फिर भी 'कामायनी' कोई प्रेम-काव्य नहीं है और उसमें आये हुए प्रेम-प्रसंग केवल आनुषंगिक रूप में ही आते हैं। उसका प्रधान उद्देश्य मानव जीवन के भीतर श्रद्धा एव इडा के सामंजस्यपूर्ण समन्वय द्वारा उसे उसके सामूहिक जीवन के साथ एकात्मता लाभ करा कर चिर कल्याण का भागी बनाना है। 'प्रसाद' जी ने 'कामयिनी' में 'काम' के एक से अधिक रूप चित्रित किये है, किंतु उसकी कथा को आद्योपान्त पढ़ लेने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उसका वास्तविक रूप वही है जो बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा का भी सहयोग ग्रहण करके पहचाना जा सके। उनकी यह भावना शुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है और यही कदाचित् भारतीय विचारधारा के भी अनुकूल है।

'प्रसाद' जी के विषय में इस प्रकार का एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि वे वस्तुतः लौकिक प्रेम के कवि है अथवा उनका लक्ष्य अलौकिक प्रेम ही है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में जो सौदर्य जनित प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है और जो उसकी मादकता उनकी 'आँसू' नामक रचना में उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों द्वारा अनुप्राणित होकर सर्वत्र उमड़ती हुई-सी लक्षित होती है उससे उक्त प्रथम पक्ष का समर्थन होता है। किंतु प्रेम का जो चित्र इस कवि ने अपनी 'प्रेमपथिक' रचना में अंकित किया है और जिसकी ओर उसने बार-बार संकेत किया है वह उक्त दूसरे पक्ष की पुष्टि में दिया जा सकता है जिस कारण उपर्युक्त प्रश्न को प्रश्रय देना अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता है। परंतु इस कवि की अंतिम रचना 'कामायनी' में हमे इन दोनों प्रकार की बातें दीख पड़ती है जिस कारण 'प्रसाद' जी की प्रेम विषयक धारणा को समझने में हमें उतनी कठिनाई का अनुभव नहीं होना चाहिए जितनी कि प्रायः कल्पना कर ली जाती है। 'प्रसाद' जी मूलतः उस प्रेम के कवि हैं जो हमारे जीवन का आदिस्रोत बनकर आया है और जो हमारे

भीतर एक शुद्ध एवं स्वाभाविक-वृत्ति के रूप में अंतर्हित है। वह, उनके अनुसार, तत्त्वतः अलौकिक है, किंतु उसकी अलौकिकता किसी काल्पनिक जगत् की वस्तु नहीं है। वह तो इस 'भूतल पर स्वर्ग' लाने की दशा में किसी समय भी चरितार्थ हो सकती है और, इसी कारण, उस प्रेम के लिए 'लौकिक' अथवा 'अलौकिक' का प्रश्न उठाना अनावश्यक है। उन्होंने स्वयं उक्त 'आँसू' रचना में भी उसी प्रेम को संबोधित करके कहा है,

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खड़ी अमरता
वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो, मेरे मधुवन में[1]—इत्यादि

वह प्रेम कहीं से प्राप्त करने की वस्तु नहीं; वह तो अपने ही भीतर है और अपने आत्मार्पण वा आत्मदान के रूप में प्रकट हुआ करता है; जैसे,

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिए है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार![2]

---

[1] 'आँसू' (भारती भण्डार, प्रयाग), पृ० ६४

[2] 'लहर' (वही), पृ० ३७

"The fact can never be ignored that we have our greatest delight when we realize ourselves in others, and this is the definition of love."—

'प्रसाद' जी की रचनाओं में राष्ट्रीय भाव के गीतों की भी कमी नहीं है और उनमें उनकी भारतीय संस्कृति-विषयक श्रद्धा सर्वत्र दीख पड़ती है। वे अतीत गौरव का गान गाते हैं और वर्तमान के लिए आत्मविश्वास का स्वर भरते हैं। परंतु इसी युग के एक दूसरे प्रसिद्ध कवि श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (ज० सं० १९५६) के गीतों में इसके अतिरिक्त भविष्य की अभिलाषा एवं उज्वल आदर्श के चित्रों का भी समावेश पाया जाता है। वे भारत जननी के प्रति एक सच्चे और दृढ़व्रती देश भक्त के रूप में अपने हार्दिक भाव प्रकट करते हुए कहते हैं—

नरजीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम सञ्चित सब फल।
जीवन के रथपर चढ़कर,
सदा मृत्यु पथ पर बढ़कर
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल धौत विमल,
दृगजल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म सञ्चित सब फल।[१] इत्यादि

इसी प्रकार वे अपने देश में क्रांति की लहर उत्पन्न करने के भी इच्छुक हैं और वे शक्तिमती माता से विनय करते हुए कहते हैं —

Rabindranath Tagore (The Religion of Man, p. 49)

[१] **'गीतिका' (सरस्वती प्रेस, बनारस) पृ० २०**

जला दे जीर्ण शीर्ण प्राचीन;
क्या करूँगा तन जीवन हीन?
मां तू भारत की पृथ्वी पर
उतर रूपमय माया तन धर,
देवव्रत नरवर पैदाकर,
फैला शक्ति नवीन--[1]इत्यादि

वे आदर्श भीष्म (देवव्रत) को भी नवीन शक्ति में देखना चाहते हैं।

श्री 'निराला' आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करने वाले अद्वैतवादी कवि हैं और प्रायः रहस्यवाद के स्वरों में भी गान करते हैं। वे कबीर साहब की भाँति कभी-कभी कह उठते हैं--

स्पर्शमणि तू ही, अमल, अपार
रूप का फैला पारावार,
व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार,
कामिनी की लज्जा, शृंगार
खोलते खिलते तेरे प्राण,
खोजता कहाँ उसे नादान?[2]

फिर भी वे अपनी इष्ट शक्तिमती मां के प्रति कहते हैं--

तुम्हें ही चाहा सौ सौ बार,
कण्ठ की तुम्हीं रही स्वर-हार।

*   *   *

विश्व पादप छाया में म्लान-
मना बैठा, व्याकुल थे प्राण;

---

[1] 'गीतिका' (सरस्वती प्रेस, बनारस), पृ० ३७

[2] वही, पृ० २७

तिमिरतर, प्रभा-दृगों में ज्ञान
उतर आई, तुम ले उपहार ।[1]

उसके गुणादि का वर्णन भी कई स्थलों पर करते हैं। वे उसके दर्शन प्राकृतिक दृश्यों में भी करते हैं और कहते हैं—

पत्रों के झुरमुट के सुखकर
तुम्हीं सुनाती हो नूतन स्वर
भर देती हो प्राण ![2]

श्री 'निराला' ने प्रकृति की वस्तुओं में सजीवता का आरोप कर उनमें मानवीय भाव भरने के भी प्रयत्न किये हैं। उद्यान में किसी कुन्दकली को देखकर उन्हें एक विरह विधुरा प्रेमिका की स्मृति आ जाती है और वे उसका एक सुंदर चित्र खींच देते हैं; जैसे,

सोचती अपलक आप खड़ी,
खिली हुई वह विरह वृन्त की
कोमल कुन्द-कली ।
नयन नगन, नव नील गगन में
लीन हो रहे थे निज धन में,
यह केवल जीवन के वन में
छाया एक पड़ी ।[3]

वास्तव में वे प्रेम को सर्वव्यापक समझते हैं और उसे स्मृति के मूल प्रेरक के रूप में भी व्यक्त करते हुए कहते हैं—

---

[1] 'गीतिका' (स० प्रे०) पृ० ६४
[2] वही
[3] वही, पृ० ४

वसन वासनाओं के रँग रँग
पहन सृष्टि ने ललचाया,
बाँध बाहुओं में रूपों ने
समझा—अब पाया पाया;
किंतु हाय, वह हुई लीन जब
क्षीण बुद्धि-भ्रम में काया,
समझे दोनों, था न कहीं वह
प्रेम, प्रेम की थी छाया।
प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो
उर उर के हीरों के हार,
गूँथे हुए प्राणियों को भी
गुंथे न कभी, सदा ही सार।[1]

उसे, इसी कारण, वे विश्व के क्षुद्र प्राणियों तक के प्रति प्रकट करते हैं। उसकी व्यापकता और प्रभाव का वर्णन उसे उन्होंने समुद्रवत् बतला कर भी किया है जैसा 'पञ्चवटी-प्रसंग' में राम द्वारा कहलाया है—

प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भूपर।
प्रेम की महोर्मिमाला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृणसम बह जाते हैं।[2]

'निराला' जी ने प्रेम के विरह पक्ष को भी बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और उसे तपाकर शुद्ध कर देने वाली आग के रूप में चित्रित किया है; जैसे,

---

[1] 'अनामिका' (लीडर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३१-२
[2] 'परिमल' (गंगा ग्रंथागार, लखनऊ), पृ० २३८

तप वियोग की चिर ज्वाला से
कितना उज्वल हुआ हृदय यह,
पिष्ट कठिन साधना-शिला से
कितना पावन हुआ प्रणय यह,
मौन दृष्टि सब कहती हाल,
कैसा था अतीत मेरा, अब
बीत रहा यह कैसा काल।[१]

और विरहजन्य अश्रुजल को उन्होंने व्यथाभार को हल्का कर देने वाला ठहराया है; जैसे,

पिक-रव पपीहे बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु,
नयन जल ढल गए,
लघुतर कर व्यथा भार——
जागो फिर एक बार![२]

'निराला' जी वर्ण्य वस्तु के सजीव चित्रण में अत्यंत निपुण कवि है।

श्री 'निराला' के ही समान छायावादी रचना में प्रवीण एक अन्य कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं जो उनके समवयस्क भी हैं। ये अपने प्रारंभिक जीवन काल में 'पर्वत प्रांत' के प्राकृतिक वातावरण में रहते रहे जिस कारण इन पर प्राकृतिक सौंदर्य का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा। इनका स्वयं कहना है कि "वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौंदर्य का

---

[१] 'अनामिका' (ली० प्रे०) पृ० ६५
[२] वही, पृ० १९९

प्रेम किसी रूप न किसीमें वर्त्तमान है।''[1] प्रकृति-निरीक्षण के कारण उसके प्रति उनमें 'अगाध मोह' जागृत हुआ और 'अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में' पूरी सहायता भी मिली। उन्होंने प्रकृति को अपने से अलग, सजीव सत्ता रखनेवाली, नारी के रूप में देखा है और साधारणतः उसके सुंदर रूप ने ही उन्हें मुग्ध किया है। उनकी 'वीणा' तथा 'पल्लव' नामक संग्रहों की रचनाओं मे इस बात के अनेक उदाहरण मिल सकते है। 'वीणा' में एक स्थल पर उन्होंने एक सरिता प्रवाह के वर्णन द्वारा प्रेम की स्निग्धता और सरलता का परिचय इस प्रकार दिया है—

स्नेह चाहिए सत्य, सरल!
कैसा ऊँचा नीचा पथ है
मा! उस सरिता का अविरल
तेरे गीतों को वह जिसमें
गाती है टल् टल् छल् छल्।

* * *

मा! उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ अज्ञात?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल।[2]

और 'गुञ्जन' की कुछ पंक्तियों द्वारा प्रेम के प्रथम प्रादुर्भाव का चित्रण इस प्रकार किया है—

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम विहग का वास!

---

[1] 'आधुनिक कवि' (सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० २
[2] 'वीणा' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग), पृ० २४

आज मधुवन की उन्मद बात
हिला रे गई पात-सा गात,
मन्द्र द्रुम-मर्मर-सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास![1] इत्यादि

पंत जी ने विरह को बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और उसे 'वरदान' तक कह डाला है। उनकी यह धारणा उस काल से ही जान पड़ती है जब उन्होंने अभी तक अपनी प्रारंभिक कविताओं की रचना की थी और वह उनकी पिछली रचनाओं में भी प्रायः उसी रूप में रही। 'पल्लव' की एक रचना में उन्होंने न केवल इसे 'वरदान' बतलाया है अपितु आदि काव्य रचना की प्रेरणा तक का श्रेय इसीको दे दिया है; जैसे,

विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है;
वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आंखों में चुपचाप
बही होगी कविता अनजान![2]

'ग्रन्थि' में उन्होंने इसकी वेदना के 'हृदय' को 'माखन कावना' ठहराया है। वेदना ही विरह का सार है और इसकी विश्वमयी व्यापकता का उल्लेख करते हुए कवि ने स्वयं भी अपने उद्गार प्रकट किये हैं; जैसे,

---

[1] 'गुंजन' (भारती भंडार, बनारस), पृ० ४२
[2] 'पल्लव' (भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग), पृ० १३

वेदना!—कैसा करुण उद्गार है!
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में व्योम में है वेदना!
वेदना!—कितना विशद यह रूप है!
यह अँधेरे हृदय की दीपक-शिखा!
रूप की अन्तिम छटा! औ' विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी!
कौन दोषी है? यही तो न्याय है!
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है,—विश्व का
नियम है यह; रो, अभागे हृदय रो!![१]

वे प्रणय की दी हुई 'वेदना' को 'सजल' कहते हैं ओर 'भोले प्रेम' को संबोधित करते हुए उससे पूछते हैं,

और, भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है![२]

पंत जी के अनुसार, प्रेम भाव के भीतर हृदय पक्ष की प्रधानता तथा मस्तिष्क पक्ष का अभाव रहने के कारण, प्रेमी में विवेक-शून्यता आ जाती है और वह बिना किसी प्रकार भी सोचे-समझे, अपना हृदय अपरिचित हाथों में भी दे डालने को विवश हो जाता है। इस बात को कवि ने एक प्रासंगिक

---

१ 'वीणा और ग्रन्थि' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग), पृ० ८७

२ वही, पृ० ८५

प्रेमाख्यान के द्वारा उदाहृत किया है और उसमें आत्मजीवन की-सी झलक ला दी है। कहानी का सार अंश केवल इतना ही है कि उसका नायक एक दिन संध्या के समय, किसी ताल में जल-विहार करते समय, अपनी नौका के साथ डूब जाता है। किंतु कुछ काल के अनंतर जब उसकी आँखें खुलती है तो, संज्ञा प्राप्त कर लेने पर, वह देखता है कि एक सुंदर बालिका उसका शीश अपनी जंघा पर रखकर उसकी ओर सस्नेह देख रही है और उसकी मूकता में भी उसे अपने प्रति प्रेम का परिचय मिल जाता है। फिर तो दोनों ही एक दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जाते हैं और उस नायक को अपने जीवन में, सर्वप्रथम, इस प्रकार की आत्मीयता का भान होता है। अपने सामाजिक वातावरण के कारण दोनों प्रेमियों को वियोग की दशा में ही रखना पड़ता है। अंत में, नायिका किसी अन्य युवक को वैवाहिक संबंध के अनुसार दे भी दी जाती है जिसका परिणाम उक्त नायक के लिए वेदना-मूलक सिद्ध होता है। इस प्रकार कहानी, वस्तुतः, कवि के उपर्युक्त प्रेम संबंधी विचारों के लिए केवल एक दृष्टांत-सी ही प्रतीत होती है। फिर भी इसकी वर्णन-शैली में सर्वत्र आत्मकथा का-सा आभास मिलता है और उसमें निहित विचारों पर भी उसके व्यक्तित्त्व की छाप बहुत स्पष्ट है।

'ग्रन्थि' की इस प्रेम-कहानी को पढ़कर हमें 'प्रसाद' जी की 'प्रेम-पथिक' वाली प्रेम-कथा का स्मरण हो आता है। इसमें संदेह नहीं कि 'प्रेम-पथिक' की कहानी 'ग्रन्थि' वाली से कहीं अधिक पूर्ण है और उसकी घटनाएं स्पष्ट और सुसंगत भी जान पड़ती हैं। किंतु जहाँ तक एक युवक और एक युवती के पारस्परिक प्रेम संबंध और उस पर सामाजिक नियमानुसार आघात पहुँचने का प्रश्न है इन दोनों में किसी प्रकार का उल्लेखनीय अंतर नहीं लक्षित होता। 'प्रेम-पथिक' के दोनों प्रेमी अपने बचपन में एक साथ खेलते हैं और उनका प्रेम क्रमशः विकसित होता है, किंतु चमेली का पिता उसका विवाह किसी अन्य युवक के साथ कर देता है जिस कारण 'पथिक' उदास

होकर घर से चल निकलता है और फिर दोनों का मिलन, अंत में, हो जाता है। 'ग्रन्थि' के प्रेमियों का प्रेम एक घटना विशेष के कारण जागृत होता है किंतु दोनों तब से प्रायः वियोगावस्था में ही रहते हैं और अंत में भी उनका मिलन नहीं होता। 'प्रेम-पथिक' के प्रेमी मिलकर भी उदासीन व्यक्तियों की भाँति बातें करते हैं और फिर किसी अनंत पथ का पथिक बनने का स्वप्न देखने लगते हैं जहाँ 'ग्रन्थि' का प्रेमी असफल बनकर 'वेदना' के गीत गाता है। पाठक जी के 'एकान्तवासी योगी' वाले प्रेमियों की भाँति इनमें से कोई भी सफल बनकर अंत में, प्रेम का आनंद नहीं लूटते। इन तीनों प्रकार के प्रेमियों से भिन्न 'मिलन', 'पथिक' एवं 'स्वप्न' के प्रेमी दीख पड़ते हैं जो श्री रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएं हैं। इन तीनों कहानियों के प्रेमियों के सामने प्रेम एवं लोक-संग्रह के बीच किसी एक को चुनकर स्वीकार करने की समस्या उठ खड़ी होती है जिसे वे अपने-अपने ढंग से हल करते हैं और क्रमशः लोक-सेवा, बलिदान एवं कर्त्तव्य-पालन के व्रत में लीन होते दीख पड़ते हैं। 'प्रेम-पथिक' में सात्विक एवं उदात्त प्रेम की विजय अवश्य होती है, किंतु उसके साथ लोक-मंगल तथा जन-सेवा की भावना स्पष्ट होकर कार्य में परिणत होती नहीं जान पड़ती। 'मिलन', 'पथिक' एवं 'स्वप्न' के युगल प्रेमी त्याग को निरे ऐंद्रिय विलास से अधिक महत्त्व देकर ही नहीं रह जाते वे कुछ करके भी दिखलाते हैं। इस प्रकार 'एकान्तवासी योगी' में जहाँ प्रेम फिर से अपने सांसारिक रूप में आ जाता है, 'प्रेम-पथिक' में 'प्रेमनिधि' की ओर अग्रसर होने में लग जाता है वहाँ इन तीनों कहानियों में लोक-संग्रह की भावना में पर्यवसित हो जाता है, किंतु 'ग्रन्थि' में, उसके बदले में केवल, 'वेदना' ही हाथ लगती है और उसके रचयिता कवि को, अंत में, इस परिणाम पर ही पहुँचना पड़ता है,

वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद

वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतन्त्र विनोद है।[१]

और वह 'वेदना' के इस मनोहर विपिन में ही अपने को 'सुख संपन्न' भी पाता है।[२]

परंतु पंत जी ने आदर्श कलाकार का चित्रण करते हुए उससे अपनी 'शिल्पी' शीर्षक कविता में कहलाया है,

खर कोमल शब्दों को चुन चुन
मैं लिखता जन जन के मन पर,—
मानव आत्मा का खाद्य प्रेम,
जिस पर है जगजीवन निर्भर।[३] इत्यादि

और उन्होंने मानव जीवन के लिए आवश्यक बातों में प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व भी दिया है; जैसे

विद्या, वैभव, गुण विशिष्टता
भूषण हों मानव के,
जीव प्रेम के बिना किंतु ये
दूषण है दानव के।[४]

उनके अनुसार मानव के मानवपन का सबसे बड़ा यही एक चिह्न है। ऐसे प्रेम का मानव स्वयं ईश्वरवत् बन जाता है और इस प्रकार के आदर्श मानव के द्वारा यह धरातल भी स्वर्ग में परिणत होकर अक्षय सुख और शांति का आगार बन जाता है। पंत जी कहते हैं,

---

[१] 'वीणा और ग्रन्थि' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ९०
[२] वही, पृ० ९२
[३] 'युगवाणी' (भारती भण्डार, इलाहाबाद), पृ० २६
[४] वही, पृ० ३०

मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?[१]

उन्होंने इधर जनवाद की ओर विशेष ध्यान देकर जन जीवन को भी अपनी रचनाओं का विषय बना लिया है, उनकी अभिलाषा है,

हो धरणि जनों की; जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर।[२]

अतएव, 'ग्रन्थि' वाले प्रेम के असफलता जनित वेदना मे पर्यवसित हो जाने से ही, पत जी को स्थूल भोगवादी प्रेम का समर्थक नही कह सकते। उनका प्रेम वस्तुतः उस कोटि का जान पडता है जिसे पश्चिम के लोग बहुधा 'अफलातूनी प्रेम' (Platonic love) का नाम देते है और इस बात के कई उदाहरण हमें उनकी प्रेम विषयक फुटकर कविताओं में भी मिल सकते है। 'विसर्जन' में उसकी प्रेमिका कहती है—

इस मंद हास में बह कर
गा लूँ मै बेसुर—'प्रियतम'
बस इस पागलपन में ही
अवसित कर दूँ निज जीवन !
अवलोक अल्पता मेरी
उपहार न चाहे दो तुम,
पर कुपित न होना मुझ पर
दो चाहे हार दयाधन !
तुम मुझे भुला दो मन से
मै इसे भूल जाऊँगी,

---

[१] 'आधुनिक कवि' (सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ३ (पर्यालोचन)
[२] वही, पृ० ३७

पर वंचित मुझे न रखना
अपनी सेना से पावन![1]

इस प्रकार के प्रेमोद्‌गार में लौकिकता के शब्दों में भी अलौकिकता का स्वर स्पष्ट गूँजता हुआ जान पड़ता है।

पंत जी के उपर्युक्त 'वेदनावाद' की ध्वनि हमें कई अन्य छायावादी कवियों की रचनाओं में भी सुनने को मिलती है। उनका यह रूप, सर्वप्रथम, 'प्रसाद' जी की अनेक फुटकर कृतियों में दीख पड़ा था और यह कुछ अंशों में 'निराला' जी की पंक्तियों में भी वर्तमान समझा जा सकता है। वास्तव में यह इन कवियों की एक विशेषता है जो 'वेदना', 'पीड़ा', 'कसक', 'टीस' जैसे शब्दों के माध्यम से इनके विरहानुभव की तीव्रता को व्यक्त करती है। कवि अपने जीवन में किसी 'अभाव' वा सूनेपन का अनुभव करता है जो उसे रह-रह कर खलने लगता है और यह दशा यदि किसी ऐसी अनुभूति का परिचय देती है जिसका संबंध अभीष्ट विश्वात्मक सत्ता के वियोग से रहता है तो वह रहस्यमयी भी बन जाती है। फलतः छायावाद का रूप रहस्यवाद में परिणत हो जाता है जिसके उदाहरण पंत जी से कहीं अधिक हमें महादेवी जी की कविताओं में मिल सकते हैं। महादेवी जी का 'वेदनावाद' वस्तुतः 'दुःखवाद' की कोटि तक पहुँच जाता है और, अंत में, वहाँ पर दुःख एवं सुख का एक ऐसा सामंजस्य प्रतीत होने लगता है जो सचमुच सुंदर है। अपनी 'यामा' की भूमिका में 'अपनी बात' शीर्षक के नीचे वे स्वयं इस प्रकार कहती हैं—"पहले बाहर खिलनेवाले फूल को देख कर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानों वह मेरे ही हृदय में खिला हो, परंतु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी। फिर वह सुख-दुख मिश्रित अनुभूति ही चिंतन का विषय बनने लगी और अब अन्त में मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामंजस्य ढूंढ लिया है

[1] 'पल्लव' (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग), पृ० ६४-५

जिसने सुख-दुख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का प्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।"[१]

महादेवी जी ने जीवन को ही विरहमय देखा है और उसे किसी कमल पुष्प की संज्ञा देकर उसका वर्णन इस प्रकार के शब्दों द्वारा किया है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात!
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात!
जीवन विरह का जलजात!
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल;
तरल जल कण से बने घन-सा क्षणिक मृदु गात!
जीवन विरह का जलजात![२] इत्यादि

उनके 'नीहार' नामक काव्य संग्रह के पढ़ने से पता चलता है कि इस कवयित्री को सदा अपने प्रियतम के वियोग का अनुभव हो रहा है जिसकी वेदना की तीव्रता उसे व्याकुल बना रही है और वह सहसा यहाँ तक कह उठती हैं,

नहीं अब गाया जाता देव!
थकी अंगुली, हैं ढीले तार,
विश्व वीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार![३]

वेदना की अनुभूति उसे ऐसी लग रही है जैसे उसका कभी कोई अंत नहीं होने वाला है और वह एक दूसरी कविता में इस प्रकार कहती है—

---

१ **'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० ६ (अपनी बात)**
२ **वही, पृ० १३८**
३ **वही, पृ० १**

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद ![१]

इसी कारण, उसे इस प्रकार के शब्दों में एक मनोमोहकता-सी प्रतीत होने लगती है; जैसे,

सुनाई किसने पल में आन
कान में मधुमय मोहक तान?
'तरी को ले जाओ मँझधार
डूब कर हो जाओगे पार;
विसर्जन ही है कर्णाधार,
वही पहुंचा देगा उस पार![२]'

अंत में, 'सांध्यगीत' की कुछ पंक्तियों द्वारा वह अपना भाव इस प्रकार भी व्यक्त करने लगती है—

आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा!
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं![३]

अतएव, महादेवी जी के जीवन-दर्शन का यह एक प्रमुख सिद्धांत ही जान पड़ता है,

---

[१] 'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० ७
[२] वही, पृ० १९
[३] वही, २१३

एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित;
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत;
पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?[१]

जिसका परिचय हमे उनकी रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिलता है।

यह 'कौन ?' महादेवी जी का वही चिर सुंदर 'प्रियतम' है जिसके दर्शन की उत्सुकता में विकल होकर उन्होंने अन्यत्र कहा है—

फिर, विकल है प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?[२] इत्यादि

और अब वे उसे अपने निकट ही पाकर अपनी उक्त वेदना के लिए किसी प्रकार के प्रतिफल की अभिलाषा नही करतीं प्रत्युत उस प्रियतम को सब कही प्रत्यक्ष करने में ही निरत हो जाती हैं। वे कहती है,

आँसू का मोल न लूँगी मैं !
यह क्षण क्या ? द्रुत मेरा स्पन्दन;
यह रज क्या ? नव मेरा मृदु तन;
यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण;
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन;

---

[१] 'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० १३५
[२] वही, पृ० २३२

मेरे सबमें प्रिय तुम,
किसमें व्यापार करूँगी मैं ?
आँसू का मोल न लूँगी मैं !
निर्जल हो जाने दो बादल,
मधु से रीते सुमनों के दल,
करुणा बिन जगती का अंचल,
मधुर व्यथा बिन जीवन के पल;
मेरे दृग में अक्षय जल
रहने दो विश्व भरूँगी मैं !
आँसू का मोल न लूँगी मैं ![1]

महादेवी जी ने, इसी कारण, किसी पूजन-अर्चन की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं किया है। उन्होंने अपने जीवन को ही उस प्रियतम का आवासस्थल-सा बना रखा है और वे भी कबीर की शैली में कहती हैं—

क्या पूजन क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम, मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्त्तन रे ![2]

---

१ 'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० १७२
२ वही, पृ० १९२

उनका अपने प्रियतम के प्रति केवल यही अनुरोध है कि वह इन्हें अपनी वेदनाओं द्वारा सदा जागरूक बनाये रखे। उन्हें इसी बात में सबसे अधिक आनंद आता है कि वे अपनी साधना में सदा सजग रहा करें और इसके व्याज से उसके अस्तित्व का अनुभव न खो सकें। उनका उससे कहना है,

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुण्ठन से;
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से!

* * *

आवे बन मधुर मिलन क्षण
पीड़ा की मधुर कसक-सा;
हँस उठे विरह ओंठों में
प्राणों में एक पुलक-सा!
पाने में तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो जीवन,
चिर तृष्णा हो मिट जाना।[1]

यह चिर अतृप्ति ही उनकी उस चिर साधना की मूल भित्ति है जो उनके जीवन में उन्हें अग्रसर किये रहती है और जिसके विषय में वे कहती हैं,

मैं सजग चिर साधना ले!
सजग प्रहरी से निरंतर,
जागते अलि रोम निर्भर;

---

[1] 'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० ७७

निमिष के बुद् बुद् मिटा कर,
एक रस है समय सागर!
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले!

* * *

विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा;
दुःख सुख में कौन तीखा,
मैं न जानी औ न सीखा!
मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले![1]

उनका कहना है कि वेदना हमारे अंतःकरण को शुद्ध कर देती है; हमें अपने प्रियतम चिरसुंदर की ओर आकृष्ट करती है और स्वयं ब्रह्म की भी शोभा इसीमें है कि कोई उसके लिए उसका अनुभव करने वाला हो। महादेवी जी एक वास्तविक नारी हृदय की कवयित्री है जिनमें पूर्वपरिचित रहस्यवादी कवियों की भावधारा के साथ-साथ वैष्णवों की प्रेमलक्षणा भक्ति के भी स्रोत का संयोग दीख पड़ता है और इन दोनों के संगम का उन्होंने अपने स्वाभाविक ढंग से लाभ उठाया है।

छायावादी दृष्टिकोण के वर्तमानकालीन अन्यतम कवि श्री रामकुमार वर्मा है। ये प्रकृति के अंतस्थल में किसी चेतना का अनुभव करते है जो उन्हें मानवीय विशेषताओं से भी युक्त प्रतीत होती है और जिसे आधार बनाकर वे अपने कल्पना-क्षेत्र में विचरण करने लगते है। वे अपने प्रेम-भाव, हास-विलास अथवा विरहादि की छाया का अनुभव प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारों में भी किया करते हैं और कभी-कभी इस प्रकार के भी उद्गार प्रकट करते हैं जिनसे जान पड़ता है कि उनका जीवन उनसे पूर्णतः प्रभावित हो जाया करता है। इनकी रचनाओं में हमें प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अनेक

---

[1] 'यामा' (किताबिस्तान, इलाहाबाद), पृ० २२१

उदाहरण मिलते हैं और उस 'वेदना' का भी संगीत सुन पड़ता है जो विश्वात्मा के वियोग का परिणाम है। फिर भी ये अनुभूति से अधिक कल्पना के ही कवि समझ पड़ते हैं और इस विचार से ये महादेवी की अपेक्षा पंत के निकटतर हैं। इनके प्रेम में न तो महादेवी की तन्मयता है और न वैसा उन्माद ही है; इनमें 'निराला' की भावुकता के भी दर्शन बहुत कम होते हैं। ये वस्तुतः उसी प्रेम के पथिक हैं जो 'शुद्ध' और 'सात्विक' समझा जाता है और जिसकी चर्चा पन्त जी के संबंध में पहले की जा चुकी है। श्री वर्मा का भी 'प्रियतम' उसी प्रकार 'अज्ञात' और 'अविनश्वर' है जैसा अन्य छायावादी कवियों का है और ये भी उसे 'कौन' कहते दीख पड़ते हैं परंतु प्रेम एवं विरह संबंधी व्यक्तिगत अनुभूति को सूचित करने वाली पंक्तियों की संख्या इनकी रचनाओं में अधिक नहीं पायी जाती।

अपने 'अंजलि' शीर्षक संग्रह की कविताओं में से एक में ये इस प्रकार लिखते हैं,

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर!
इस एकान्त प्रान्त प्रांगण में
किसे सुनाते सुमधुर स्वर?
अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर!

अपना ऊँचा स्थान त्याग कर,
क्यों करते हो अधःपतन?
कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,
जिसे खोजते हो वन-वन?

विरह-व्यथा में अश्रु बहा कर,
जलमय कर डाला सब तन!
क्या धोने को चले स्वयं,
अविदित प्रेमी के पद-रज-कन?

लघु पाषाणों के टुकड़े भी
तुमको देते हैं ठोकर!
क्षण भर ही विचलित होकर,
कम्पित होते हो गति खोकर।

लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिंगन।
कौन तुम्हें पथ बतलाता है,
मौन खड़े हैं सब तरुगन?

अविचल चल, जल का छल-छल,
गिरि पर गिर गिर कर कलकल स्वर!
पल-पल में प्रेमी के मन में,
गूँजे ए कातर निर्झर![1]

यह उनकी पूरी कविता है जिसमें उन्होंने एक प्राकृतिक वस्तु में सजीवता का आरोप कर उसे मानवीय प्रेम की विशेषता से मुक्त कर दिया है। इसके द्वारा बड़े सुंदर शब्दों में उस 'अविदित प्रेम' के प्रति विश्व के निरंतर अग्रसर होते जाने की ओर भी संकेत किया है। इसी प्रकार मानवेतर प्राणियों के भी व्यापारों से स्वयं प्रभावित होने का एक उदाहरण उन्होंने अपनी एक अन्य कविता में इस ढंग से दिया है—

आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई,
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोई

---

[1] 'आधुनिक कवि' (रामकुमार वर्मा), पृ० ९७-८

किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया!
यह तुम्हारा हास आया।[1]

प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का अनुभव इस कवि को कभी-कभी आश्चर्यचकित-सा कर देता है और उसके सामने अपनी समस्या खड़ी हो जाती है जो उसकी जीवन-यात्रा की पहेलियों को सुगमता के साथ स्पष्ट नहीं होने देती। अपनी चित्ररेखा में वह एक स्थल पर कहता है,

रजनी का सूनापन विलोक
हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात
यह वैभव का उत्पात देख
दिन का विनाश कर जगी रात,
यह प्रतिहिंसा इस ओर और
उस ओर विषम विपरीत वात;
नभ छूने को पर्वत स्वरूप
है उठा धरा का पुलक गात।
है एक सांस में प्रेम दूसरी सांस दे रही विषम दाह।
मैं भूल गया यह कठिन राह।[2]

प्राकृतिक नियमों के भीतर कवि ने एक शाश्वत वैषम्य की कल्पना कर उसे यहाँ पर, अपने दार्शनिक चिंतन का आधार बना लिया है। परंतु कहीं-कहीं पर उसे प्राकृतिक नियमों के साथ उसके अपने जीवन का मेल बैठता हुआ नहीं प्रतीत होता जिसका परिणाम भिन्न दीख पड़ता है। अपने अंदर तो वह किसी के वियोग का ही अनुभव करता जा रहा है, किंतु प्रकृति के भीतर उसे सुखद परिवर्तन भी दिखलाई देते हैं,

---

[1] 'चित्ररेखा' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ३
[2] वही, पृ० ९

मेरे वियोग का जीवन।
विस्तृत नभ में फैला है बन कर तारों का लघु तन ।।
सूनापन ही तो मेरे इस जीवन का है चिरधन।
अंतस्तल में रोता है कितनी पीड़ाओं का घन!!
बन में भी तो मधुऋतु का हो जाता है आवर्त्तन!
पर उजड़ा ही रहता है, मेरी आशा का उपवन।।
मेरे वियोग के नभ में कितना दुख का कालापन!
क्या विह्वल विद्युत ही में होंगे प्रियतम के दर्शन?[1]

कवि ने अपनी विरह-दशा का वर्णन करते समय एक स्थल पर उस समय का चित्र खींचा है जब चारों ओर वर्षा की झड़ी लग रही है और वायु के झोंके भी चल रहे हैं जिस कारण काले बादलों के अंधकार में अपने भूले हुए 'किसी' का पता लगाना असंभव-सा हो गया है। ऐसे ही अवसर पर चातक की चीत्कार भी सुन पड़ती है जिसका प्रभाव अपने अंतस्तल पर पड़ जाता है। कवि ने अपनी रचना मे वर्षा के स्थान पर अपनी आंखों मे अश्रु-धार का गिरना दिखलाया है, वायु के लिए अपने निश्वासों की चर्चा की है, काले बादलों का प्रतिरूप अपनी काली पुतलियों को मान लिया है और चातक के स्वर को वेदनात्मक गीतों में अनुभव किया है। खोजने का स्थान स्वयं अपना ही हृदय है जिसके भीतर निरंतर निवास करता हुआ भी वह 'कौन' कभी पहचान में नहीं आ पाता और यही वेदना का वास्तविक कारण है—

छिपा उर में कोई अनजान!
खोज खोज कर सांस विफल, भीतर आती जाती है,
पुतली के काले बादल में, वर्षा सुख पाती है;

---

[1] 'चित्ररेखा' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ४८

एक वेदना विद्युत् सी खिंच खिंच कर चुभ जाती है
एक रागिनी चातक स्वर में सिहर सिहर गाती है।
कौन समझे समझावे गान?
छिपा उर में कोई अनजान।[१]

श्री वर्मा, वास्तव में, विरह और वियोग के ही कवि हैं और उन्हें सदा अपने प्रियतम का पृथक् प्रतीत होना खला करता है। जायसी की पंक्ति "पिउ हिरदे मँह भेंट न होई" का स्वर इनकी बहुत-सी पंक्तियों में गूँजता है जहाँ पर ये रहस्यवादी लय में गान करते जान पड़ते हैं। ये जब अपनी चारों ओर उल्लास का सामान देखते हैं और प्रकृति तक इनके सामने 'उसके' स्वागत में उद्यत जान पड़ती है तो इन्हें स्वभावतः कुछ आशा बँध जाती है किन्तु इन्हें फिर निराश ही होना पड़ता है और ये विवश होकर कह उठते हैं,

भूल कर भी तुम न आये!
आंख से आंसू उमड़ कर,
आंख ही में हैं समाये॥
सुरभि से शृंगार कर—
नव वायु प्रिय पथ में सजाई,
अरुण कलियों ने स्वयं सज,
आरती उर में सजाई।
वन्दना कर पल्लवों ने,
नवल वन्दनवार छाये॥
मैं ससीम, असीम सुख से,
सींच कर संसार सारा।
सांस की विरुदावली से,
गा रहा हूं यश तुम्हारा।

---

१ 'चित्ररेखा' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ४

पर तुम्हें अब कौन स्वर,
स्वरकार! मेरे पास लाये?
भूल कर भी तुम न आये![1]

---

[1] 'आधुनिक कवि', (रामकुमार वर्मा), पृ० १३

१२. प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और उपसंहार

हिन्दी-काव्यधारा की छायावादी कविता कुछ दिनो तक बहुत प्रचलित रही और उसके कारण हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि भी हुई। किंतु अन्तर्मुखी वृत्ति के प्रति अत्यधिक ममता के कारण, उसमे व्यक्त किए गए भावो म क्रमश· व्यक्तिगत सकीर्णता की भी गध आने लगी। छायावादी कवि केवल अपने ही सुख-दु खो की चर्चा करते जान पडते और समझ पडता कि समाज के अन्य व्यक्तियो के साथ उनका कोई सबध नही, प्रत्युत जिस विश्व की ओर वे कभी-कभी सकेत किया करते है वह भी उनकी ही कल्पना द्वारा निर्मित कोई नया अपरिचित ससार है। उनके प्रेम, उनकी वेदना अथवा उनकी अभिलाषा का सबध किसी ऐसे 'कौन' के साथ रहा करता जिसे वे खलकर बतला भी नही पाते थे। उनकी अनेक बाते केवल पहेलियो के रूप मे बनी रह जाती थी जिनके सुलझाने के लिए न तो किसीको अवकाश था और न कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। वर्त्तमानकालीन जीवन क्रमश अधिकाधिक सघर्षमय होता जा रहा था। ससार के बडे-बडे राष्ट्रो की पारस्परिक होड उनकी प्रभुत्वलिप्सा तथा इसी कारण बढती गई उनकी युद्ध प्रवृत्ति का प्रभाव विश्वव्यापी बन रहा था। नित्यप्रति नई-नई राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक समस्याए खडी होती जा रही थी जिनके कारण वर्ग भेद और अशाति को पूरा बल मिलता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति से आख बचाकर हमारे कवियो का छायावाद, रहस्यवाद और हालावाद के गीतो मे लीन रहना उनकी पलायन वृत्ति का ही सूचक था। फलत समय के पारखी आलोचको द्वारा सावधान कर दिए जाने पर पहले के छायावादी कवियो तक ने क्रमश अपना दृष्टिकोण बदलना स्वीकार कर

लिया और अपनी 'स्वप्नमयी' एवं 'स्वर्विहारिणी' प्रतिभा को एक बार फिर 'मृत्तिका की धरणी' की ओर मुड़ने के लिए विवश किया। वे अब ठेठ जीवन की ओर अपनी दृष्टि डालने के कारण 'जनतावाद' के समर्थक भी बन गए और उनकी रचनाओं पर 'प्रगतिवाद' का रंग चढ़ने लगा।

'प्रगतिवाद' एक प्रकार के जीवन-दर्शन की ओर संकेत करता है जो कार्ल मार्क्स के 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' के आधार पर निर्मित हुआ है। परन्तु हिंदी के उपर्युक्त कवियों के पहले इस प्रकार की किसी साम्प्रदायिकता के भाव नहीं थे। वे अपने को केवल 'प्रगतिशील' भर बना देना चाहते थे। साधारण जनता की वास्तविक दशा के साथ सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करना तथा उसका यथातथ्य वर्णन करना भर उनका काम रहा। उन्होंने भारत की ग्रामीण जनता के जीवन को महत्त्व दिया और उसकी बिगडी दशा पर अपना क्षोभ भी प्रकट किया। साधारण किसान, श्रमजीवी, अछूत, भिखमंगो, आदि का जीवन उनकी रचनाओं का एक व्यापक विषय बन गया जिस कारण वे बातें भी जिनकी ओर उनका कभी ध्यान तक नहीं जाता था उन्हे सरस और आकर्षक जान पडने लगी। 'पत्थर तोडने वाली', 'भैसागाडी', 'जूठे पत्ते' जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत जो कविताएं रची जाने लगी उनमें जन-जीवन की झाँकी मिलने लगी और उन्हें 'युगवाणी' के नाम से अभिहित किया जाने लगा। पीडित जनता के प्रति प्रकट किये जाने वाले इस प्रकार के भावो मे एक अपूर्व कारुण्य गर्भित आत्मीयता भी लक्षित होती थी। श्री 'नवीन' की 'जूठे पत्ते' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ पहले दी जा चुकी है। श्री निराला की 'भिक्षुक' नामक रचना का कुछ अंश इस प्रकार है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।[1]

इसी प्रकार श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भसागाड़ी' शीर्षक रचना में दरिद्र ग्रामनिवासी की दयनीय दशा का चित्रण करते समय कहा गया है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पांच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर,
तुम सुख सुषमा के लाल, तुम्हारा है विशाल वैभव, विवेक,
तुमने देखी हैं मान भरी उच्छृंखल सुंदरियां अनेक।

* * *

तुमने देखा है क्या बोलो, हिलता-डुलता कंकाल एक ![2]

ऐसे व्यक्तियों के इस पथ-परिवर्तन के कारण फिर बहुत-से नवयुवक भी इस क्षेत्र में आ गए और क्रमशः प्रगतिवाद की एक परंपरा ही चल निकली। अब से शोषकों और शोषितों का विषय इनकी कविताओं में एक प्रमुख स्थान पाने लगा और वर्ग-संघर्ष की अंतर्ज्वाला भी दहकने लगी। करुणा भरी सहानुभूति का स्वर धीरे-धीरे प्रतिहिंसा के भयंकर आह्वान में परिणत हो गया और श्री 'अंचल' जैसा कवि कहता सुन पड़ने लगा—

भूखे शिशुओं की चीत्कारें सोख रहीं नयनों का पानी
सूखी निचुड़ी चुसी हड्डियां करतीं विप्लव की अगवानी।
मुट्ठी भर दानों की तृष्णा महाक्रान्ति की आग लगाती,
आज क्षुधा इन कंकालों की सोये ज्वालामुखी जगाती।[3]

---

[1] 'परिमल' (गंगा ग्रंथागार, लखनऊ), पृ० १३३
[2] 'हिंदी कविता का क्रांतियुग' (जयपुर), पृ० ४४८ पर उद्धृत
[3] वही, पृ० ४५१

अंत में इस प्रकार की हवा ने इतना तीव्र वेग स्वीकार किया कि हमारे कवि भारत के भावी रूप के भी द्रष्टा बन गए। उनमे से कुछ ने तो अपनी प्राचीन संस्कृति एव परपरा को ही उसकी पृष्ठभूमि बनाया, किंतु दूसरे उसके लिए लाल रूस को आदर्श मानने लगे। इस दूसरे वर्ग के श्री 'नरेन्द्र ने बतलाया—

लाल रूस को जिसने समझा हो धरती का चप्पा भर,
वह इस दुनिया की हलचल को समझ सका क्या हव्वा भर?
देश नहीं वह, राष्ट्र नहीं वह, वह मानवता की आशा!
लाल रूस के इन्किलाब की गाथा दुनिया की गाथा!

इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

लाल फौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा,
क्यों न उसीकी ओर बहे यह दिशा भूल कविताधारा![1]

परंतु ये प्रगतिवाद के समर्थक तथा क्रांति के अग्रदूत कवि अपनी रचनाओं के विषय को यही तक सीमित रखना नहीं चाहते। ये प्रेम एवं विरह के भी गीत गाते है और उसके लिए अपनी वर्णन-शैली मे ये कुछ विशेषता लाते भी जान पड़ते है। ये सर्वत्र क्रांति देखना चाहते है, इसलिए प्रेमियों के पारस्परिक प्रेम-प्रदर्शन मे भी इन्हें किसी प्रकार की मर्यादा का पालन सह्य नहीं। अतएव, कभी-कभी वे प्रेमियों के मिलन के ऐसे निरावृत चित्र खीचते है जिनमे न केवल वासनात्मक प्रेम, अपितु कामुकता की भी गंध आने लगती है। ऐसे चित्रणों के लिए आजकल के कई नवयुवक कवि प्रसिद्ध है जिनमें से केवल एकाध की कुछ पंक्तिया इस प्रकार है—

पिये अभी मधुराधर चुम्बन, गात गात गूंथे आलिंगन,
सुने अभी अभिलाषी अन्तर, मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन।

('प्रभातफेरी' में नरेन्द्र)

---

१ 'हिन्दी कविता का क्रान्तियुग' (जयपुर), पृ० ४५५ पर उद्धृत

इस प्रेरित लोलित रति गति में, जब झूम झमकता विसुध गात,
गोरी बांहों में कस प्रिय को, कर दूं चुम्बन से सुरास्नात।
('अपराजिता' में 'अञ्चल')

वास्तव में यह प्रवृत्ति कुछ पहले से भी आ रही थी और यह, संभवतः पश्चिमी साहित्य का प्रभाव पड़ने जाने के कारण, जागृत हुई थी। श्री 'पंत' ने भी अपनी एक रचना 'प्रथम मिलन' में इस प्रकार कहा है,

तुम मुग्धा थी अति भाव प्रवण, उकसे थे अंबियों से उरोज,
तुमने अधरों पर अधर धरे, मैंने कोमल वपु भरा गोद।

और बच्चन ने 'कवि की वासना' शीर्षक रचना में इसके लिए अपनी सफाई तक देने की चेष्टा की है। वे कहते हैं—

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा!
सृष्टि के आरंभ में मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्य वाले दीप्त भाल विशाल चूमे,
प्रथम संध्या के अरुण दृग चूम कर मैंने सुलाये,
तारिका-कलि से सुसज्जित नव निशा के बाल चूमे,
वायु के रसमय अधर पहले सके छू होंठ मेरे,
मृत्तिका की पुतलियों से आज क्या अभिसार मेरा!

इसी कारण ये अपनी इस प्रकार की चेष्टाओं को छिपाना नहीं चाहते, प्रत्युत संसार के स्वभाव पर ही संकेत करते हुए कहते हैं—

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे 'साधू' समझता।

उधर 'नवीन' जी को 'जग' की आलोचनाओं की भी कोई चिन्ता नहीं है और वे पाप-पुण्यादि के बखेड़ों से भी दूर रहकर कह उठते हैं—

यों भुज भर कर हिये लगाना है क्या कोई पाप?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप कलाप? ('कुंकुम' से)

वर्त्तमानकाल के श्री 'नरेन्द्र' एवं श्री 'अंचल' जैसे नवयुवक कवियों की विशेषता इस बात में है कि वे ऐसी बातों की रसात्मकता को अपने स्पष्ट वर्णन द्वारा नष्ट-सी कर देते हैं और साथ ही अपने पाठकों के सामने एक प्रकार के नैतिक ह्रास का चित्र भी उपस्थित कर देते हैं। श्री 'अंचल' ने अपनी प्रारंभिक कविताओं में स्पष्ट ही कह दिया है—

एक वासना ही मुखरित है
अतल वितल में प्रबल प्रिये!

* * *

मैं अर्थ बताता द्रोह भरे यौवन का
मैं नग्न वासना को गाता उच्छृंखल।

फिर भी इन कवियों की सभी रचनाओं पर अश्लीलता की ही छाप नहीं लगी हुई है और न वे सदा फ्रायड के अवचेतनवाद से प्रभावित होकर, उक्त प्रकार के निरावृत्त चित्रों का ही निर्माण करना अपना कर्तव्य समझते हैं। श्री नरेन्द्र के 'प्रवासी के गीत' नामक काव्य संग्रह में जो विरह के सुंदर गान पढ़ने को मिलते हैं उनमें ऐसी बातों का बहुत कम आभास पाया जाता है और अपने 'पलाशवन' वाले गीतों में तो यह कवि अपने नैराश्य के प्रदर्शन द्वारा हमारी समवेदना तक का अधिकारी बन जाता है; जैसे,

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता,
सत्य कहता हूं न मैं असहाय या निरुपाय होता,
किंतु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?
'कब मिलेंगे?' पूछता मैं विश्व से जब विरह कातर,
'कब मिलेंगे?' गूँजते प्रतिध्वनि निनादित व्योम सागर,

'कब मिलेंगे?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?[१]

फिर, चिर विरह की इस अमा में, मैं शमा बन जल रहा हूं!
भाव मेरे शलभ चंचल
कभी गीतों में सुलग, जल,
खेलते जीवन-तिमिर से
चिर विरह के ज्यों विकल दल,
विश्व कहता फुलझड़ी, मैं किंतु प्रतिपल जल रहा हूँ!
सुहृद कहते, पंक्ति कैसी!—
मोतियों की-सी लड़ी है,
सुरुचि-सूची से बिंधे हैं
शब्द, चुन चुन कर जड़ी है!
किंतु मोमी मोतियों-सा हूं पिघलकर जल रहा हूँ![२]

इसी प्रकार का वर्णन श्री 'अचल' ने भी अपने 'अपराजिता' नामक काव्यसंग्रह में किया है, जैसे.

भूलना मुझको न प्रियतम है यही जीवन मरण में
आर्त्त कलरव गूँजता-सा प्रति तृषा के संवरण में
भूलना तुमको अरे जब मिट सकी मेरी न छाया
प्राण! मैंने तो प्रलय तक के लिए यह दाह पाया
मैं वहन करता चलूं पथ भ्रांत होकर भी—
तुम्हारी वह्नि थाती
भूलना मुझको न प्रियतम!

---

[१] 'पलाश वन' (भारती भंडार, प्रयाग), पृ० ४
वही, पृ० १७
'अपराजिता' (छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग) पृ० ३२

इन कवियो की रचनाओ मे विरह-व्यथा कभी-कभी अत्यत करुणाजनक रूप ग्रहण कर लेती है। इसके कारण इन्हे अपने जीवन मे सर्वत्र असफलता पर असफलता दीखने लगती है और ये अपने को किसी नियति चक्र के बधन मे ग्रस्त समझकर अधीर और विवश हो उठते है। इस प्रकार का अवांछनीय निराशावाद उनकी बहुत-सी पक्तियो मे दीख पडता है। प्रगतिवाद एव स्वच्छन्दतावाद का राग अलापने वाले, अपने जीवन की वैयक्तिक अनुभूतियो के कारण अपने आदर्शो से पृथक् पड जाते है और उनकी पक्तिया निर्जीव-सी बन जाती है। निराशावाद की प्रवृत्ति हम श्री 'बच्चन' की कविताओ मे भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है, किन्तु उनके इस दोष को हम प्राय यह समझकर भूल जाते है कि उस पर उमर खय्याम का रग कुछ अधिक चढ चुका था और वे एक दृष्टिकोण विशेष के कवि है। परन्तु श्री 'नरेन्द्र अचल, हरिकृष्ण 'प्रेमी' अथवा भगवती चरण वर्मा के विषय मे ऐसी कोई बात लक्षित नही होती। ये कवि, सभवत केवल अपने जीवन सघर्ष म पराजय का अनुभव करके ही हताश बन गए है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का कहना है—

हम भिखमंगों की दुनिया मे स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले,
हम एक निशानी सी उर पर ले असफलता का भार चले,
हम मान रहित अपमान रहित जी भरकर खुलकर खेल चुके,
हम हँसते हँसते आज यहाँ प्राणों की बाजी हार चले।

और उसी प्रकार के करुणाजनक शब्दो मे श्री भगवतीचरण वर्मा भी कहते सुन पडते है।

अब असह अबल अभिलाषा का है सबल नियति से संघर्षण
आगे बढ़ने का अमिट नियम, पग पीछे पड़ते है प्रति क्षण!

---

[1] 'हिन्दी कविता का क्रान्तियुग' (जयपुर), पृ० २५८ पर उद्धृत

मैं एक दया का पात्र अरे, मैं नहीं रंच स्वाधीन प्रिये!
हो गया विवशता की गति में बँध कर हूं मैं गतिहीन प्रिये![1]

परन्तु इस नैराश्य की प्रतिक्रिया में श्री वर्मा कभी-कभी अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के कारण उबल भी पड़ते हैं और श्री 'बच्चन' की भाँति, ठीक उमरख़ैय्यामी ढर्रे पर ही यौवन-मद को घूंट पर घूंट पीने में लग जाते हैं। जैसे, अपनी 'मधुकण' में वे कहते हैं—

पीने दे पीने दे ओ, यौवन मदिरा का प्याला!
मत याद दिलाना कल की, कल है कल आने वाला।
है आज उमंगों का युग तेरी मादक मधुशाला!
पीने दे जी भर रूपसि अपने पराग की हाला।
लेकर अतृप्त तृष्णा को आया हूं मैं दीवाना।
सीखा ही नहीं यहाँ है थक जाना या छक जाना।
यह प्यास नहीं बुझने की पी लेने दो मनमाना।

यह कथन उस नियम का अनुसरण करता जान पड़ता है जिसके कारण,

हर एक तृप्ति का दास यहाँ,
पर एक बात है खास यहाँ,
पीने से बढ़ती प्यास यहाँ,
सौभाग्य, मगर, मेरा देखो,
देने से बढ़ती है हाला!
मैं मधुशाला की मधुबाला![2]

---

[1] हिन्दी कविता का क्रान्तियुग, (जयपुर) पृ० २५९
[2] 'मधुबाला' (भारती भंडार, प्रयाग), पृ० ६

और जहाँ पर देने से बढ़नेवाली 'हाला' केवल प्रेम का ही प्रतीक समझी जा सकती है ।

इस अतृप्त तृष्णा वा पिपासा के एक अन्य उल्लेखनीय कवि श्री 'अंचल' हैं जिन्होंने इसे अपनी कविता का प्रमुख विषय बना रखा है । श्री 'अंचल' के अनुसार स्त्री एवं पुरुष का यौन सबंध सर्वत्र स्वतन्त्र होना चाहिए और इसी आदर्श के अनुसार चलने पर हमारी कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं । इनकी पंक्तियों में चिर पिपासा का नग्न रूप देखने को मिलता है और उसके भीतर एक दहकती ज्वाला-सी भी लक्षित होती है । ये कहते हैं—

मैं नवयुग का हलचल लाया
मस्ती लाया, यौवन लाया
मेरा ज्वाला-सा वक्षस्थल
उन्माद भरा उर उच्छृंखल
किसकी मृदु पगध्वनि का पागल
मैं दुर्दिन का गायक आया।

** **

मैं ज्वालामुखी सदृश प्रतिक्षण,
चिर मंगलमय मेरा यौवन,
चिर जागृत मेरा आत्मदहन
मैं सबमें मिल जलने आया।[१]

अन्यत्र उक्त पिपासा का परिचय देते हुए भी ये इस प्रकार बतलाते हैं—

क्यों मघवा के नव प्रवेग से
विद्रोही हो उठता मन,

---

१ 'अपराजिता' (छा० हि० पु० मा०, दारागंज, प्रयाग), पृ० ८९.

किस उद्दीपन से आकुल हो,
लपझप करता मलय पवन,
किस परदेशी को पुकारती
कोकिल मतवाली हो-हो,
किस प्रीतम के लिए जल रही
विजनवती किन्नरी मगन ?
अरे यही है प्रेम—विश्वकी
चिर विध्वंसमयी ज्वाला,
उतर उतर कर चढ़नेवाली
भीम वासना की हाला,
मिट मिट कर फिर बनने वाला
एक पराजित सा जीवन,
सदा सोहागिन चिर विधवा-सी
मृत्यु प्रिया-सी विकराला ।[1]

श्री 'अचल' प्रेम के भीतर सदा दाहकता का ही अनुभव करते हैं, किंतु उस अनुभूति में उन्हें एक अपूर्व मिठास भी मिलती है । उन्हें इस बात का भी पता नहीं कि उस ज्वाला का मूल कारण क्या है, फिर भी वे उससे सदा अभिभूत रहा करते हैं और उसे अपरिहार्य मानते हुए उसके कारण होने वाले कष्टों को भी सुखपूर्वक झेलने को प्रस्तुत रहा करते हैं। प्रेम का परिचय देते हुए वे अन्यत्र कहते हैं—

प्रेम ? आह इस मधुर शब्द मे
कितनी जलन भरी है
इन पुरवैया सी स्मृतियों मे
तप्त भस्म बिखरी है

---

[1] 'मधूलिका' (साधना मंदिर, प्रयाग)

प्यार किया कब मैंने किसको ?
स्वयं नहीं यह जाना
जलता रहा अनल सा
अपने में न उसे पहचाना

* *

प्रेम ? एक अभिशाप—एक
चीत्कार भरा सपना है
मौन मौन इस पूत चिता में
तिल तिल कर तपना है

आह न छेड़ो तड़प रहा
मैं मृत्युहीन मतवाला
भर भर फुफुक धधक उठती
है मेरी अंतर्ज्वाला ।[१]

और अपनी 'मस्ती'[१] शीर्षक कविता में वे इस प्रकार भी कहते हैं—

'आज' 'आज' के दौर चलें अब,
कल की अभिलाषा कैसी
कल आयेगा क्या निश्चय,
यह कल की आशा कैसी ?

* *

सभी शमा हैं इस गुलशन में,
हम सबके परवाने हैं
आगे आगे प्राण जलाते
हम पगले दीवाने हैं

* *

---

[१] 'मधूलिका' (साधना मंदिर, प्रयाग) (उच्छ्वास)।

और सुनो तो यही कौन कम
है यदि हम उन्मत्त रहें;
यही बड़ा वरदान सदा जो
जला करें उत्तप्त रहें।[1]

श्री 'नरेन्द्र' एवं श्री 'अंचल' क्रमशः निरावृत प्रेम-चित्रण एवं चिर कामना के वर्तमानकालीन प्रतिनिधि कवि हैं। सूरदास तथा अन्य वैसे कृष्णभक्त कवियों ने राधा एवं कृष्ण की केलि का वर्णन करते समय कतिपय नग्न चित्रों का अंकन अवश्य किया है। शृंगारी कवियों ने भी अपनी रीति-कालीन रचनाओं में इसके अनेक उदाहरण उपस्थित किए हैं। परंतु, उन दोनों दशाओं में, जहाँ पर हमें या तो भक्तों द्वारा कल्पित अलौकिकता का आवरण दीखता है वा दरबारी कवियों द्वारा प्रस्तुत किए गए साहित्यिक दृष्टांतों की रूपरेखा मिला करती है वहाँ श्री 'नरेन्द्र' के वर्णन अपनी निजी अनुभूति के स्पष्ट प्रदर्शन-से प्रतीत होते हैं। छायावाद युगीन अंतर्मुखी वृत्ति उनके मूल में काम करती जान पड़ती है और फ्रायड के अवचेतनवाद का प्रभाव भी स्पष्ट रूप में लक्षित होता है, जिस कारण यहाँ पर किसी प्रकार के व्याज की सहायता लेने का प्रश्न ही नहीं उठता और सारी बातें अपने नग्न रूप में आ जाती हैं। यह प्रवृत्ति उस दृष्टिकोण को भी सूचित करती है जो सर्वथा वैज्ञानिक है और जिसके अनुसार शास्त्रीय दृष्टिकोण की मर्यादा-अमर्यादा अथवा पाप-पुण्य से संबंध रखने वाले विचारों का कोई महत्त्व नहीं है और जो, इसी कारण, शुद्ध अनैतिक भी कहा जा सकता है। श्री 'अंचल' की चिर कामना वा पिपासा भी हमें, कम से कम विद्यापति जैसे कवियों की पंक्तियों में, अपने विशुद्ध रूप में दिखलाई पड़ती है। श्री 'अंचल' की तृष्णा में ज्वार-भाटा का वेग और तूफान की भीषणता है जो 'अवचेतन द्वार' के

---

[1] 'मधूलिका' (साधना मंदिर, प्रयाग)—(सखी!)

सहसा टूट जाने के ही कारण आ सकी है। विचार-स्वातन्त्र्य एव परंपरा-विद्रोह के वातावरण ने इन कवियो को मर्यादा-पालन के बधन से सर्वथा मुक्त कर दिया है।

वर्त्तमानकाल के एक प्रगतिवादी कवि श्री उदयशकर भट्ट भी है जिन्होने बहुत-सी रचनाए की है। इनके 'अमृत और विष' नामक काव्य-सग्रह मे 'लुई सुई शेकाई' नाम की एक छोटी-सी प्रेमाख्यायिका है जिसके पात्र चीन और जापान देश के ह। लुई सुई एक जापानी तरुणी है जो चीनी तरुण शेकाई से प्रम करने लगती है और दोनो का विवाह भी हो जाता है। दोनो प्रेमपूर्वक तोकियो मे रह कर अपना जीवन यापन करते है, किंतु एक दिन सहसा पता चलता है कि जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया जिस कारण इनकी शाति मे बाधा पहुंच जाती है। शेकाई धर्म सकट मे पड जाता है। एक ओर उसे प्रिय पत्नी का प्रेम आकृष्ट करता है और दूसरी ओर उसके सामने अपनी मातृभूमि की रक्षा का प्रश्न आ खडा हो जाता ह। अन्त मे, उसके हृदय मे द्वद्वभाव के रहते हुए भी, स्वदेश-प्रेम पत्नी-प्रेम पर विजय पा लेता है और वह रात को अपने बाल-बच्चे छोड कर चीन की ओर चल देता है। उसके उस समय के प्रयाण का चित्र खीचते हुए श्री भट्ट ने इस प्रकार लिखा है—

गाढ़ कर आलिंगन, चूम चूम दोनों सुत
बिदा हुआ शेकाई चीन के प्रयाण हित—
रोता हुआ हँसता-सा
पीड़ा को दबाये और गाता हुआ देश गीत
राष्ट्रगीत, जातिगीत, दबा दबा हाहाकार,
अनुपम चीत्कार, बड़वा-सा मथ मन,
सभी स्वप्न, सभी सुख, सभी शान्ति खोके मानो—
एक नेत्र अश्रु भरे, और दूसरे में हर्ष,

हृदय में द्वन्द्व लिए, प्रेम लिए, व्यथा लिए,
विष लिए, मृत्यु लिए, और अमरत्व लिए,
सुख लिए, शक्ति लिए, अरि का विनाश लिए,
जाता घोर अन्धकार! [१]

प्रेम एवं कर्त्तव्य विषयक अंतर्द्वंद्व की ऐसी भारतीय कहानियों के कुछ उदाहरण श्री सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' में भी पाये जाते हैं।

इस काल के प्रगतिशील कवियों में श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' को भी एक विशेष स्थान दिया जाता है। इनकी कविताओं की विशिष्टता इस बात में देखी जाती है कि उन्हें न केवल प्रस्तुत सामाजिक चेतना से प्रेरणा मिलती है, अपितु उनके रचयिता का विशेष ध्यान वर्ण्य वस्तु की यथावत् अभिव्यंजना की ओर आकृष्ट जान पड़ता है जिस कारण उनकी शैली भी परंपरागत नहीं रह पाती। इस प्रकार के और भी अनेक कवि हैं जिनमें से कुछ की कविताओं को श्री 'अज्ञेय' ने ही 'तार सप्तक' एवं 'दूसरा सप्तक' नामक दो भिन्न-भिन्न संग्रहों में संपादित करके, प्रकाशित किया है। इनकी रचनाओं का भी प्रधान लक्ष्य किसी वस्तु वा भाव की यथातथ्य अभिव्यक्ति है चाहे उसकी शैली जो भी रूप ग्रहण कर ले। उसके लिए किसी निश्चित वा शास्त्रीय मानदंड की अपेक्षा नहीं। ऐसी रचनाओं में सदा परंपरागत विषय, भाषा एवं शैली के 'स्थानान्तरण' का प्रयास रहता है और नवीनता की खोज रहा करती है। ये कवि जो मन में आता है लिखते हैं और उस भाषा में लिखना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक भावना 'कलाकार से स्वयं बातें करती' जान पड़ती है। 'व्यक्तिगत सत्य' को 'व्यापक सत्य' का रूप देने के लिए सदा सचेष्ट रहना और, अपने युग की परि-

---

[१] 'अमृत और विष' (युनिवर्सल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद), पृ० ५९

स्थितियों के साथ अधिक से अधिक प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करके, विशेष के साधारणीकरण में दत्तचित्त होना इनका प्रधान कार्य है। ये अभी तक 'किसी मंजिल पर पहुंचे नहीं, राही हैं—राही नहीं राहों के अन्वेषी हैं।' इस प्रकार ये कवि सदा किसी प्रयोगशाला में काम करते-से प्रतीत होते हैं और, इसीलिए, इन्हें 'प्रयोगवादी' कवि कहना अनुचित नहीं जान पड़ता। इन कवियों की रचनाओं की एक विशेषता इस बात में भी पायी जाती है कि उनमें वैयक्तिक अनुभूति का रूप स्वभावतः प्रधान बन कर आया करता है और उनमें बहुधा बुद्धि तत्त्व का भी अधिक समावेश रहता है जिस कारण उसकी अभिव्यक्ति प्रायः जटिल एवं दुरूह-सी बन जाती है।

'अज्ञेय' जी तथा अन्य प्रयोगवादी कवियों ने कभी-कभी प्रेम एवं सौदर्य पर भी कविताएं लिखी हैं। श्री 'अज्ञेय' की एक रचना 'चिंता' नाम की है जिसके दो खंडों को क्रमशः 'विश्वप्रिया' एवं 'एकायन' नाम दिये गए हैं और जिनमें, उन्हींके अनुसार, क्रमशः पुरुष के स्त्री के प्रति तथा स्त्री के पुरुष के प्रति प्रेम का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रत्येक खंड के भी पृथक्-पृथक् बहुत-से अंश हैं जो पद्य और गद्य दोनों में ही पाये जाते हैं और जो कभी-कभी संग्रहीत फुटकर अंशों से लगते हैं। यहाँ पर हम क्रमशः 'विश्वप्रिया' एवं 'एकायन' के दो-दो पद्य उद्धृत करते हैं—

सीमा में मत बाँधो, न तुम
खोलो अनन्त का माया द्वार—
मैं जिज्ञासु इसी का हूं कि
अपरिचित! करूँ तुम्हें क्या प्यार?
विश्व नगर में कौन सुनेगा मेरी मूक पुकार—
रिक्त भरे एकाकी उरकी तड़प रही झंकार—
अपरिचित! करूं तुम्हें क्या प्यार?[१]

---

[१] 'चिन्ता' (सरस्वती प्रेस, बनारस), पृ० १९-२०

तथा,

जिह्वा ही पर नाम रहे तो
कोई उसकी टेर लगा ले,
शब्दों ही में बँधे प्यार तो
उसे लेखनी भी कह डाले;
आंखों में यदि हृदय बसा तो
करे तूलिका उसका चित्रण--
वह क्या करे कि जिसका रग-रग
में हो आत्मदान का स्पन्दन ?

मेरे कण कण पर अंकित है प्रेयसि! तेरी अनमिट छाप
तेरा तो वरदान बन गया मुझे मूकता का अभिशाप।[१]

और इसी प्रकार,

मैं अमरत्व भला क्यों मांगूं ?
प्रियतम, यदि नितप्रति तेरा ही
स्नेहाग्रह आतुर कर कम्पन,
विस्मय से भर कर ही खोले
मेरे अलस निमीलित लोचन,
नितप्रति माथे पर तेरा ही
ओस बिन्दु सा कोमल चुम्बन
मेरी शिरा शिरा में जागृत
किया करे शोणित का स्पन्दन;
उस स्वप्निल, सचेत निद्रा से प्रियतम! मैं कब जागूं ?
मैं अमरत्व भला कब मांगूं ?[२]

---

१ चिन्ता (सरस्वती प्रेस, बनारस) पृ० ४२

२ वही, पृ० १२९-३०

अच्छा होता कि हताशा
अतिशय पूरी हो जाती—
तेरी अनुपस्थिति से ही
मैं अपना प्राण बसाती!
जब विरह पहुँच सीमा पर
आत्यन्तिक हो जाती है—
उसकी अबाधता ही तो
प्रियतम को पा जाती है!
सागर जब छलक छलक कर
भी शून्य अमा पाता है
तब किस दुस्सह स्पन्दन से
उसका उर भर आता है![1]

श्री शमशेर बहादुर सिंह, नामक एक अन्य प्रयोगवादी कवि ने भी अपने 'मैं सुहाग दूं' शीर्षक एक गीत को इस प्रकार लिखा है—

धरो शिर
हृदय पर
वक्ष वह्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूं—
चिर सुहाग दूं!
प्रेम अग्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूं।
विकल मुकुल तुम,
प्राणमयि
यौवनमयि

---

१ 'चिन्ता' (सरस्वती प्रेस, बनारस), पृ० १४८

चिर वसन्त स्वप्नमयि
मैं सुहाग दूं!
बिरह आग से--तुम्हें
मैं सुहाग दूं।[1]

प्रयोगवादी वर्ग के कवियों की पर्याप्त रचनाएं अभी तक उपलब्ध नहीं हैं जिन पर पूरा विचार किया जा सके। वर्तमानकालीन हिंदी-कविता अभी तक कदाचित्, छायावादी प्रभावों से ही अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पा सकी है और प्रगतिवादी चेतना ने अभी किसी सक्षम कवि की प्रतिभा को एकांतभाव से अनुप्राणित नहीं किया है। इस कारण, जान पड़ता है, हमारे बहुत से कवि अभी उस पूर्व परिचित कुहिराच्छन्न प्रदेश में ही अपने-अपने मार्ग ढूंढने के प्रयास करते जा रहे हैं। ऐसी दशा में हिंदी-काव्य की भावी प्रवृत्ति और उसमें प्रकट किए जाने वाले प्रेम का रूप अथवा उसके व्यक्तीकरण के माध्यम अथवा शैली के विषय में निश्चित रूप से प्रायः कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

हिंदी-काव्य-धारा में प्रेम का विषय, सर्वप्रथम, उसके मूलस्रोत अपभ्रंश की ही रचनाओं में दीखने लगता था। उस समय इसका क्षेत्र बहुत कुछ सीमित रहा, किंतु इसकी अभिव्यक्ति में शक्ति वा सजीवता का अभाव नहीं था। बौद्ध सिद्धों ने इसे अपने दोहों और चर्यापदों में नैरात्मा के अवलंबन द्वारा व्यक्त किया, जैनधर्मी कवियों ने इसके लिए उपमिति कथाओं का आश्रय लिया और असांप्रदायिक व्यक्तियों ने इसे प्रकृत प्रेमी-प्रेमिकाओं के हृदयोद्गारों के रूप में प्रकट किया। परन्तु उन सभी के शब्दों में जीवन की उष्णता विद्यमान थी और उनपर पड़े हुए पौराणिकता के पर्दे से भी होकर एक प्रकार की नैसर्गिक आभा झलकती थी जिसका प्रभाव बिना पड़े रह नहीं सकता था। फिर भी इसका सबसे शुद्ध रूप हमें उक्त तृतीय प्रकार

---

1 'दूसरा सप्तक' (प्रगति प्रकाशन, दिल्ली), पृ० ९६

के ही उदाहरणों में मिलता है जिसमे से कुछ तो केवल फुटकर कथन मात्र है और अन्य का रूप संदेशवत् है। अपभ्रंश 'संदेशरासक' को पढ़कर हमें महाकवि कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' का स्मरण हो आता है और फुटकर दूहों में अंकित मनोरम लघुचित्रों में उस प्रेम कहानी की एक झलक मिलने लगती है जो राजस्थानी 'ढोलामारूरा दूहा' का प्रधान विषय है। 'ढोला मारूरा दूहा' आदिकालीन हिंदी के प्रेम-साहित्य की एक उत्कृष्ट रचना है, इसमें संदेह नही। उस काल के रासो ग्रथो में उपलब्ध प्रेमाख्यान बहुधा, बाह्य और अनावश्यक विषयो की भरमार के कारण, बोझिल-से प्रतीत होते है। उनमे प्रेम का रूप अतिरजित कामुकता मे परिणत हो गया जान पडता है और प्रणय-सिद्धि के लिए बहुधा झेले जाने वाले कष्टो का स्थान वहाँ पर भयकर मार-काट ग्रहण कर लेती है जिसका बाहुल्य उसके प्रधान विषय को प्राय: गौणत्व प्रदान कर देता है। इस विशेष प्रवृत्ति के ही कारण इस युग को बहुत दिनों तक 'वीरगाथा काल' का भी नाम दिया जाता था जो वस्तुत: उपयुक्त नही था।

प्रेम के विषय का अधिक विस्तृत वर्णन और प्रतिपादन हिंदी के मध्य-कालीन काव्य मे हुआ। उस काल मे इसकी धारा अनेक भिन्न-भिन्न स्रोतों में फूट निकली जिनकी अपनी-अपनी विशेषताए थी और तदनुसार हमे प्रेम के विविध रूपों के लिए भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियाँ भी दीख पडी। लौकिक प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के बीच की रेखा, पहले-पहल यही पर स्पष्ट हुई और स्वयं अलौकिक प्रेम के भी भिन्न-भिन्न भेदों और प्रभेदो तक के उदाहरण हमें पहले यही आकर मिले और बड़ी प्रचुरता मे उपलब्ध हुए। अलौकिक प्रेम के हिंदी-काव्य के लिए इस काल का पूर्वार्द्ध, वास्तव मे, स्वर्णयुग था जो इसके इतिहास मे फिर कभी नही आ सका। इसके काव्य ने जो इस काल में चार पृथक्-पृथक् रूप ग्रहण किए वे क्रमश: 'संत-काव्य', 'सूफ़ी काव्य', 'कृष्ण-काव्य' एव 'राम-काव्य' कहलाए जिनके सर्वश्रेष्ठ कवियों का भी आविर्भाव इसी युग के अंतर्गत हुआ। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का

जीवनकाल मध्यकाल का उक्त पूर्वार्द्ध काल ही रहा और उन्होंने अलौकिक प्रेम के आधार पर ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया । लौकिक प्रेम का जो रूप इस युग के आरंभ काल में विद्यापति के पदों में दीख पड़ा था वह उक्त कवियों के समय में दब-सा गया और, दो-चार शृंगारी कवियों की ओर से कुछ प्रयत्न होने पर भी, वह कुछ काल के लिए आगे नहीं आ सका।

लौकिक प्रेम का महत्त्व एक बार फिर उस काल के उत्तरार्द्ध काल में स्वीकार किया गया। इस समय तक हिंदी में साहित्यिक लक्षण-ग्रंथों की भी रचना आरंभ हो चुकी थी जिस कारण तत्कालीन शृंगारी कवियों में बौद्धिकता का भी प्रचार बढ़ने लगा। फलतः, बहुत से कवियों के संबंध में, हृदय पक्ष संयत और मर्यादित-सा बन गया और ऐसे लोग विद्यापति की कोटि तक स्वभावतः नहीं पहुँच पाए । विद्यापति में साहित्य की पंडिताई कम नहीं थी, किंतु उन्हें इसके साथ-साथ एक परंपरा भी मिल गई थी जिसे ये लोग अपना नहीं पाए। इसके विपरीत कुछ हिंदी कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति को अपना व्यक्तिगत कार्य बना लिया। ये लोग वस्तुतः प्रेमी जीव थे और लौकिक प्रेम अथवा कभी-कभी अर्द्ध अलौकिक प्रेम का जो चित्र इन कवियों ने खींचा वह सर्वथा मनोरम है। प्रेम की सफल अभिव्यक्ति जितनी इन स्वच्छंद कवियों की रचनाओं में दीख पड़ी वह साहित्य के उक्त पंडितों के हाथ की बात नहीं थी। घनानंद, बोधा एवं ठाकुर ने ऐसी सुंदर पंक्तियां लिखी जो पूर्वार्द्ध काल के लौकिक प्रेमी 'आलम' वा अलौकिक प्रेमी रसखान और मीरां के लिए ही संभव थी और जिनके कारण इस उत्तरार्द्ध काल में भी हमें सच्चे प्रेम-काव्य के अभाव का अनुभव नहीं हो पाता। इस काल में संतों और सूफ़ियों ने अलौकिक प्रेम के विषय को बहुत अपनाया और नागरीदास जैसे कृष्ण भक्तों ने भी बहुत कुछ लिखा। अतएव, मध्यकाल के इस उत्तरार्द्ध काल में लौकिक एवं अलौकिक अर्थात् दोनों प्रकार के प्रेम की लगभग एक समान अभिव्यक्ति दीख पड़ती है।

प्रेम के विषय की वर्णन-शैली में भी मध्यकाल में बहुत कुछ परिवर्त्तन हुआ। आदिकालीन हिन्दी-कविता में प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति फुटकर पद्यों द्वारा की गई थी और इसके लिए कतिपय छोटे-बड़े प्रेमाख्यानों का भी प्रयोग किया गया था। फुटकर पद्यों द्वारा व्यक्तिगत प्रेमोद्गारों का प्रकाशन किया गया था जो कभी-कभी संग्रहीत करके छोटी-छोटी रचनाओं के रूप में रख दिये जाते थे और प्रेमाख्यान अधिकतर 'चरिउ' अथवा 'कहा' के रूप में रचे गए प्रबंध काव्यों के अंतर्गत मिला करते थे। मध्यकाल में फुटकर पद्य, पदों, सवैयों, कवित्तों अथवा दोहों आदि के रूप में, प्रायः पूर्ववत् ही रह गए और उनमें उद्गारों के अतिरिक्त वर्णनों का भी समावेश हो गया। परंतु प्रेमाख्यानों का रूप कुछ अधिक परिवर्तित हो गया और वे स्वतंत्र प्रेमगाथा बन गए। उनमे अब से किसी प्रेम-कहानी का एक सुव्यवस्थित रूप रहने लगा। उनमें से केवल कुछ में ही उसके कथानक का अलौकिक अभिप्राय भी दिया जाता था। जैन धर्मी कवियों ने अपने अपभ्रंश 'चरितो' अथवा 'कथा' ग्रंथों में सर्वत्र जैन धर्म का महत्त्व प्रदर्शित किया था। सूफ़ी कवियों ने भी अपनी प्रेम-गाथाओं में इसका अनुसरण किया और उनमें वे अपनी सूफ़ी प्रेम-साधना का रहस्य भी समझाते गए। इस मध्यकाल में केवल सूफ़ियों ने ही प्रेम-गाथा नहीं लिखी, अपितु कुछ संत कवियों ने भी उनका अनुसरण किया। इसके सिवाय कुछ असांप्रदायिक व्यक्तियों ने भी ऐसे प्रेमाख्यान लिखे जिनका कथानक कोई प्रचलित प्रेम-कथा रहा करता। कुछ प्रेमाख्यानों के रचयिताओं ने उनमें अपने निजी जीवन की भी एक झाँकी दिखलाने की चेष्टा की।

हिंदी-काव्यधारा के आधुनिक काल में मध्यकालीन प्रवृत्तियों का भी रूप बदला। लौकिक एवं अलौकिक प्रेम के बीच की रेखा इस काल के भारतेंदु युग से ही क्रमशः मंद पड़ने लगी और वर्त्तमान काल तक आकर वह अनावश्यक-सी बन गई है। भारतेंदु तथा उनके मंडल वालों ने भक्ति-प्रदर्शक पद्यों की रचना प्रायः मध्यकालीन भावों के ही साथ की थी, किंतु

द्विवेदी युग में इसके उदाहरण बहुत कम हो गए। 'प्रसाद' जी के समय से उनकी संख्या में और भी ह्रास होने लगा और वर्त्तमान काल में वे कभी-कभी केवल अपवाद स्वरूप ही दीख पड़ते हैं। द्विवेदी युग के समय से राम एवं कृष्ण जैसे 'भगवान्' कहे जाने वाले अवतारों का भी वर्णन प्रायः उच्च कोटि के महापुरुषों के ही रूप में होने लगा। भारतेंदु युग में हमें प्रेम के एक ऐसे रूप के भी दर्शन हुए जो हिंदी के लिए नितांत नवीन था और यह था स्वदेश-भक्ति वा स्वदेश-प्रेम। स्वदेश-प्रेम की पृष्ठभूमि सर्वथा लौकिक थी, किंतु, कवियों की भावुकता के कारण, वह 'स्वदेश भक्ति' के नाम से अंशतः अलौकिक-सा भी दीख पड़ा। द्विवेदी युग में आकर फिर इसके साथ राष्ट्रीय भाव का भी मेल हुआ और दोनों अब कभी-कभी मानव-प्रेम और विश्व-प्रेम की ओर भी बढ़ने लगे। प्रेम का एक दूसरा स्वरूप जो इस युग में प्रकट हुआ, और जो संभवतः अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन का परिणाम था, वह प्लैटानिक प्रेम था। इस प्रेम के लिए यौन-संबंध जनित पूर्व परिचित भावों का आधार बनना आवश्यक नहीं और न यह भगवान् की 'भक्ति' का ही पर्याय है। यह एक मानवीय चिरंतन वृत्ति के रूप में प्रकट होता है और यह सात्त्विक एवं पवित्र भी समझा जाता है। इस प्रेम में उस वासना का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता है जिसके कारण वह कभी-कभी कोरी कामुकता के नाम से कलंकित किया जाता है और दूसरी ओर इसमें उस अलौकिक भक्ति भावना का भी पता नहीं चलता जो बहुधा अंधविश्वास एवं संकीर्णता के कारण उत्पन्न हुआ करती है। यह प्रेम उन दोनों की अतिशयता का पूर्णतः मार्जन करके एक मध्यम मार्ग की ओर निर्देश करता है और इसी कारण, यह दोनों के लिए अभिनंदनीय है तथा, इसकी इन विशेषताओं के ही कारण, लौकिक प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के बीच की उपर्युक्त रेखा भी अब लुप्त-सी हो गई है।

प्लैटानिक प्रेम अथवा अफ़लातूनी इश्क़ का एक अवस्थान (aspect) हमें, प्रकृति-प्रेम के रूप में काम करता हुआ भी, प्रतीत होता है। प्रकृति के

विशाल अंग, उसके भव्य दृश्य, उसके मनोमोहक व्यापार तथा उसके नन्हे से नन्हे फूल-पत्ते एवं क्षुद्र से क्षुद्र कीट-पतंगादि तक हमारा ध्यान कभी-कभी स्वभावतः आकृष्ट कर लेते है और वह उनकी ओर इस प्रकार चला जाता है जैसे वे हमारे अपने वा आत्मीय रूप हों। हमारा मन उनमें, कम से कम कुछ काल के लिए भी, रम-सा जाता है और हम उन पर पड़े प्रभावों को अपनाते हुए उनके प्रति समवेदना प्रकट करने लग जाते है। ऐसी दशा में हमें वैसे जड-पदार्थों तक मे चेतनता का आभास होने लगता है और हम उनके साथ कभी-कभी तदनुकूल व्यवहार भी कर दिया करते है। हिंदी कवियो की रचनाओं में हमे इस प्रकार की आसक्ति का भी व्यक्तीकरण किया गया मिलता है। द्विवेदी युगीन स्व० प० मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' की एक भिन्नतुकांत कविता इस बात के प्रमाण में दी जा सकती है; जैसे—

एक प्रात घूमता हुआ, टहलने लगा वाटिका में अपने,
थे खिले गुलाब विविध रंगी, कैसी सुगंध फैलाते थे!
एक साधारण सा फूल रहा, वह मेरे मन को भाया है
उससे बढ़ बढ़ कर थे कितने, पर लगे नहीं अच्छे उतने।
अपनी अपनी रुचि ही तो है, है रीति निराली दुनिया की,
अलि को चम्पे की चाह नहीं, बौरों पर वनवन भटक रहा!

** ** **

जब हाथ बढ़ाया लेने को हा! हृदय उसे दे देने को
तब टूट पड़ी पांखुरी वहीं, मोती सी फैली बिखर बिखर।
आनंद मृत्यु का भी कारण कहते है होता कभी कभी
क्या छू जाने ही से मुझसे वह मोदमत्त निर्जीव हुआ?
वा हाथ बढ़ा प्यारा प्यारा करने को मेरा सुस्वागत
मिल गया स्नेह के सागर में उसके जल का कण होकर के।

इसी प्रकार हिंदी कवियों ने पशु-पक्षियों के पारस्परिक प्रेम पर भी लिखा है।

प्लैटानिक प्रेम विशुद्ध और अमिश्रित अनुराग का परिचायक है, किंतु वह केवल इसी कारण उस नैसर्गिक वृत्ति का भी स्थान नही ग्रहण कर सकता जो एक पुरुष और स्त्री के हृदय मे उनके स्वाभाविक यौन-संबंध के आधार पर आप से आप उत्पन्न हो जाता है। ऐसे आकर्षण के लिए यह आवश्यक नही कि वह सदा किसी प्रकार की भोग-लिप्सा द्वारा ही अनुप्राणित हुआ करे। इसका काम प्रधानतः उनके भीतर पारस्परिक सान्निध्य की अभिलाषा जागृत कर उनसे, एक दूसरे के प्रति, आत्मीयता का भाव प्रदर्शित करने का ही रहा करता है। यह प्रवृत्ति प्रायः किसी भी दो युवक-युवती के बीच स्वाभाविक रूप मे विकास पा सकती है, किंतु हिन्दी कवियों ने इसके माध्यम के लिए बहुधा आदर्श भारतीय दम्पति को चुना है और उसमे प्रस्फुटित हुए प्रेम-भाव को अधिक पवित्र भी माना है। ऐसे प्रेम के सुंदर उदाहरण हमें अधिकतर ग्राम-गीतों वा लोक-गीतों के कतिपय प्रेमाख्यानो मे मिला करते है। आधुनिक हिन्दी कवियों ने इस परंपरा का अनुसरण करना आवश्यक नही समझा है और छायावादी प्रभावों में आकर वे इस विषय में भी पूरी स्वतंत्रता से काम लेने लगे हैं। मध्यकालीन कृष्ण भक्तों ने जिस अनियंत्रित प्रेम का वर्णन कृष्ण एवं गोपियों के संबंध में ही करना उचित समझा था उसके उदाहरणों की अब कमी नही है, यद्यपि वह अब वैसी एक के प्रति अनेक की आसक्ति के रूप मे कभी नही दीख पड़ता। उसने अब अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक रूप ग्रहण कर लिया है और उस पद्धति का भी परित्याग कर दिया है जिसके अनुसार प्रेम-गाथाओं के प्रेमी अंत मे वैवाहिक नियमों द्वारा भी बँध जाते थे। इसके सिवाय छायावादी प्रभावों द्वारा जागृत अंतर्मुखी वृत्ति के कारण अब स्थूल जगत् मे अधिक महत्त्व भावजगत् को ही मिल गया है जिस कारण न केवल विरह की अनुभूति अपितु मिलन के आनन्द का भी वर्णन कोरे स्वप्निल वातावरणों के ही माध्यम से कर दिया जाता है।

इस प्रकार प्लैटानिक प्रेम ने जहाँ लौकिक एवं अलौकिक प्रेम के बीच की रेखा को मिटा देने में सहायता की है वहाँ उसने नर एवं नारी के पारस्परिक प्रेम-संबंध को एक स्वतन्त्र और नवीन रूप देने में भी हमारे कवियों का हाथ बँटाया है। छायावादी कवि अपनी निजी अनुभूति का ही वर्णन करने के लिए प्रयत्नशील जान पडते हैं। अतएव, प्रेम एवं विरह सबधी अनुभवों को भी वे अपने निजी उद्गारों के ही रूप में प्रकट किया करते हैं जो कभी उनके संस्मरणों के अंग-से भी प्रतीत होते हैं। उनकी स्मृति उन्हें बार-बार अतीत के मनोरम चित्रों की ओर उन्मुख करती रहती है और वे उनके अभाव में अनेक प्रकार की वेदनाओं का अनुभव भी करते रहते हैं, फिर भी वे उस अतीत का चित्रण किसी निश्चित रूप-रेखा द्वारा करते हुए नहीं जान पडते, वे उसकी ओर सकेत करके ही रह जाते हैं। इसके सिवाय अपने उन चित्रो में वे अपने उस प्रेमास्पद को भी प्रत्यक्ष नहीं कराते जो उनकी विरहानुभूति का लक्ष्य रहता है। कभी-कभी वे उसे 'प्रेयसी' कहते हैं, कभी 'प्रिय' कहते हैं और अनेक बार उसे 'कौन' कहकर ही रह जाते हैं। किंतु प्रत्येक दशा में वे उसके अस्तित्व का स्पष्ट अनुभव करते भी जान पड़ते हैं जिस कारण उनके कथन में रहस्यवाद की भी छाया प्रतीत होने लगती है। इन कवियों की ऐसी पंक्तियों में न तो हमें विरही घनानन्द की प्रेयसी 'सुजान' का-सा कोई परिचय मिलता है, न प्रेमिका मीराबाई के प्रियतम 'गिरधर नागर' के दर्शन होते हैं और न सत कबीर साहब के 'अगम' एवं 'अविगत' साहब 'राम' का ही कोई संकेत मिलता है। उनके द्वारा किए गए दृश्य अथवा अनुभूति के चित्रण अधिकतर लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति करते जान पड़ते हैं, किंतु उनके प्रेमास्पद की अपूर्वता उसके नर-नारी अथवा अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु होने की समस्या को सदा जटिल बनाए ही रह जाती है।

इन कवियों की रचनाओं में हमें अलौकिक प्रेम की कुछ झलक केवल ऐसे ही स्थलों पर मिलती है जहाँ पर उनकी पंक्तियों में कभी-कभी विश्व

की किसी प्राकृतिक वस्तु के अंतस्तल के स्पंदन के रूप में उठने वाली किसी अभौतिक सत्ता की आहट का अनुभव लक्षित होता है अथवा जब कभी ये विरहातुर होकर क्षितिज के 'उस पार' पहुँचने की व्यग्रता दिखलाते जान पड़ते हैं। ये उसे किसी स्पष्ट नाम द्वारा अभिहित नहीं करते और न उसके लिए संतों वा सूफियों की भाँति किसी दार्शनिक विशेषणों के ही प्रयोग करते हैं। ये यदि उसे कोई व्याख्यात्मक उपाधि भी देना चाहते हैं तो वह भी उसके अनुपम और शाश्वत सौंदर्य का ही बोधक रहा करता है। ये उसकी शक्तिमत्ता, दयालुता अथवा वात्सल्यभाव की गाथा नहीं गाते और न इन गुणों के प्रदर्शनार्थ उससे विनय ही करते हैं। ये उसके विरह की पीड़ा 'वेदना' वा 'कसक' का अनुभव करते हैं, जिसे ये किसी प्रकार का कष्ट नहीं माना करते, और उसके सदा बने रहने में ही उन्हें आनंद की भी अनुभूति होती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि इस विरह की दशा में भी उसकी स्मृति इन्हें सदा सजग किए रहती है और ये सर्वत्र उसीको देखा करते हैं। संत कवियों ने भी विरह को बहुत बड़ा महत्त्व दिया था और अपने प्रियतम के रंग में सदा रँगे रहने के जीवन को उन्होंने अपना आदर्श माना था। किंतु उनके अनुसार, ऐसी दशा तक पहुँचने का तात्पर्य अपने जीवन में 'कायापलट' लाने के समान था। इसके द्वारा, उनके पूर्व जीवन का अंत होकर, एक नितांत नवीन जीवन का आरंभ हो जाता था जिसका यापन वे 'जीवन मृतक' वा एक प्रकार का जीवन्मुक्त बनकर करना चाहते थे। वे अपनी इस साधना में 'सहज समाधि' की स्थिति ला देना चाहते थे जिसमें दैनिक जीवन का सारा कार्य उस प्रियतम के लिए ही होता था। किंतु हमारे वर्त्तमान अलौकिक प्रेमियों का ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं दीखता और इनके कथन कोरे अव्यावहारिक ही जैसे जान पड़ते हैं।

उक्त प्रकार के अलौकिक प्रेम की भी कविताएं आजकल के सभी कवियों की रचनाओं में नहीं पायी जाती। बहुत से वर्त्तमान कवि, किसी न किसी रूप में केवल शुद्ध लौकिक प्रेम का ही राग अलापते दीख पड़ते हैं।

जो कवि छायावादी रचना-शैली द्वारा अधिक प्रभावित है और उसकी शब्द-योजना एव वाक्य-विन्यास की पद्धति को सर्वथा अपना चुके हैं उनकी बहुत-सी रचनाए हमे कभी-कभी भ्रम में डाल देती है और हम उनमें आध्यात्मिक रग तक का अनुमान करने लग जाते है। इसके सिवाय जो कविताए हालावादी शब्दावली के माध्यम द्वारा लिखी जाती हैं उनकी भी व्याख्या प्रायः दो वा तीन प्रकार से करने की परंपरा चल निकलती है। ऐसी दशा में लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के स्पष्ट उदाहरणों के रूप में बहुत कम रचनाएं हमारे सामने रखी जाती हैं। इनमे भी कुछ ऐसी है जो छोटे-छोटे प्रेमाख्यानों अथवा प्रणय-प्रसंगों का वेश पहनाकर प्रस्तुत की गई है। उनमे कथा का अंश बहुत कम रहा करता है और जो दीख पड़ता है वह भी सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित नहीं रहता। सक्षिप्त घटनाओं के व्याज से प्रेम के सिद्धांत प्रसंगवश कह दिए गए पाए जाते हैं और उनके उचित अनुपात की ओर कवि का ध्यान कदाचित् कभी नहीं आया करता। ऐसे प्रेमाख्यानों का मूल्य उन प्रेम कथाओं की अपेक्षा कही कम समझा जा सकता है जो राष्ट्रीय वा मानवीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखे गए हैं। फिर भी ये उन उपर्युक्त असगत और अनन्वित रचनाओं से कम महत्त्व के नही है जो छायावादी प्रवृत्ति के कारण कोरे शब्दजाल-से प्रतीत होते हैं।

लेकिन प्रेम के अधिक उपयुक्त उदाहरणों मे वे रचनाएं रखी जा सकती है जो यथार्थवाद की प्रवृत्ति के साथ लिखी गई हैं। ये प्रेमियों और प्रेमिकाओं की प्रकृत मनोदशा का यथावत् चित्रण प्रस्तुत करती है और उसके विविध उपकरणों का भी परिचय देती हैं। किंतु ऐसा करते समय कवि के कभी-कभी अतिशयता की मात्रा तक पहुँच जाने की आशंका बनी रहती है जिस कारण उसकी कृति कभी-कभी भोंडी तक बन जाती है। बहुत से प्रगतिवादी कवियों ने इस प्रवृत्ति के फेर में पडकर अपनी रचनाओं में अनेक नग्न एवं नीरस चित्रणों का समावेश करा दिया है। छायावादी अस्पष्टता की प्रतिक्रिया में रची गई पंक्तियां यथार्थवाद की प्रगल्भता के कारण

बहुधा दोषपूर्ण बन जाती हैं और निम्न स्तर में भी आ जाती हैं।

ऐसी कविताओं पर आलोचकों ने कभी-कभी अश्लीलता का भी आरोप किया है। परंतु जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इस प्रकार के आक्षेपों का मूल कारण केवल यही हो सकता है कि ऐसी कृतियों का रूप सदा व्यक्तिगत उद्गारों का-सा हुआ करता है जिनके लिए संकोच का होना भी आवश्यक है। मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में कभी-कभी इनसे भी वीभत्स चित्रण रहा करते थे। किंतु उनका समावेश या तो राधा एवं कृष्ण के केलि-प्रसंगों के व्याज से हो जाया करता था अथवा वे शृंगारी कवियों के लक्षण ग्रन्थों में उदाहरण बनकर आ जाते थे। इस कारण उक्त प्रकार की रचनाओं का निर्माण उस समय क्षम्य-सा मान लिया गया था। आजकल की ऐसी कविताओं को भी यदि अंग्रेजी आदि भाषाओं में पाये जाने वाले काव्यों के मानदंड से देखा जाय तो उपर्युक्त प्रकार के आक्षेपों का समाधान बड़ी सरलता से हो जाय। इस प्रवृत्ति के साथ-साथ अतृप्तिवाद का भी प्रभाव आजकल की अनेक रचनाओं पर दीख पड़ता है। जान पड़ता है कि उनके कवियों का प्रेम-भाव चिर पिपासा के रूप में व्यक्त हुआ है। इसी कारण उसे बलवती तृष्णा अथवा कुत्सित वासना का पर्याय समझकर, उसके लिए भी क्षोभ प्रकट किया जाता है तथा कहा जाता है कि ऐसे कवियों की रचनाओं द्वारा समाज को हानि पहुँचने की आशंका है। किंतु इस प्रकार की कविताओं में सदा लौकिक प्रेम के ही उदाहरण नहीं पाये जाते जिनके कारण कोई भय उपस्थित हो सकता है। इनमें से अनेक रचनाएं अलौकिक प्रेम की ओर भी संकेत करती हैं और बहुत-सी इस प्रकार की रहा करती हैं जिनकी व्याख्या हम आध्यात्मिक ढंग से भी कर सकते हैं। ऐसी रचनाओं की अभिव्यंजना प्रणाली में इतनी उच्चता या उग्रता तक आ जाती है जिसके कारण लोग भ्रम कर जाते हैं।

परंतु उपर्युक्त आपत्तियों से अपने को बचाकर कविता करने की प्रवृत्ति भी अब उत्पन्न हो गई है और इसका प्रयोग होता जा रहा है। इन

प्रयोगवादी कवियो ने छायावाद एव प्रगतिवाद की अतिमात्रा का परित्याग कर दिया है और किसी मध्यम मार्ग के लिए प्रयत्नशील ह। इनका ध्यान विषय एव शैली अर्थात् दोनो को ही एक नवीन किंतु सुसगत रूप देने की ओर है। यह भी, सभवत योरपीय देशो के ही काव्य साहित्य मे लक्षित होने वाली आधुनिकतम प्रवृत्तियो का अनुसरण है। जिस प्रकार अग्रेजी जैसी भाषाओ के कवि अपने यहाँ प्रचलित समाजवाद, अवचेतनवाद, प्रतीकवाद आदि के विविध प्रभावो की प्रतिक्रिया मे कोई सर्वथा उपयुक्त मार्ग ढूँढ निकालने मे व्यस्त है और उनकी भावी रचनाशैली आदि के सबध मे अभी निश्चयात्मक रूप मे कथन करना सहल नही है उसी प्रकार हम अपने यहाँ के प्रयोगवादी कवियो के विषय म भी कह सकते ह जिनकी रचनाए तक अभी अच्छी सख्या मे उपलब्ध नही ह। प्रेम एव विरह की अभिव्यक्ति के लिए वे उसके वास्तविक रूप को ही अधिक महत्त्व देना चाहते ह, किंतु उनका उद्देश्य 'कला कला के लिए' मात्र ही नही जान पडता। वे जनवाद तथा मानवतावाद के प्रभाव क्षेत्रो मे पृथक् रहकर लिखते जाना अनुचित और मूर्खतापूर्ण समझते ह। अतएव, सभी बातो म सामजस्य बिठाते हुए किसी प्रशस्त मार्ग का निकलना अभी शेष रह गया है जिसकी सफलता केवल भविष्य पर ही निर्भर है।

फिर भी एक बात के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान इस समय आप से आप चला जाता है। हिंदी-कवियो के स्वदेश प्रेम एव राष्ट्रीय भाव की भावनाए कभी सीमित ओर सकीर्ण नही रही ओर न उन्हे कभी कोरी 'अन्तर्राष्ट्रीय' चेतना के महत्त्व का ही अनुभव हुआ। इनकी भारतीय सस्कृति ने इन्हे सदा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही पाठ पढाया ओर ये विश्व-प्रेम के आदर्श को भी कभी भूल नही सके। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे चलने वाले आदोलनो ने इन्हे इस ओर अग्रसर होने के लिए, ओर भी प्रोत्साहित कर दिया है। यदि उसके 'सर्वोदयवाद' के मूल्य को लोगो ने भलीभाँति परख लिया तो भविष्य के लिए किसी आदर्श मार्ग का निकालना भी इनके

लिए उतना कठिन नही रह जायगा। ऐसी दशा मे ये दूसरो के लिए भी पथ-प्रदर्शक बन सकेगे और इनकी रचनाओ द्वारा हमे प्रेम के उस चिरतन रूप के भी दर्शन हो सकेगे जिसे बहुत-से मनीषियो ने परमात्मा का प्रतीक रूप तक माना है और जिसके आविर्भाव से ही विश्व का कल्याण सभव हो सकता है। हिन्दी के कविवर पन्त ने परिमल-पर्व के अवसर पर अभी उस दिन सत्य ही कहा है—"धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना, आज नवीन सौंदर्य चाहती है, वह सौंदर्य मानव-चेतना के सर्वांगीण जागरण का सौंदर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती है, वह पवित्रता मनुष्य के अतर्मुख तथा बहिर्मुख साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव-प्रेम की वाणी है।"

नामानुक्रमणिका

अंगद, गुरु ७३
अंचल, रामेश्वर शुक्ल २६३, २६५, २६६, २६७, २६८, २७०, २७१, २७३
अर्जुनदेव, गुरु ७३
अब्दुर्रहमान २०, २१
अमरदास, गुरु ७३
अमीर ख़ुसरो ३६, १५१
अज्ञेय, स० ही० वात्स्यायन २७५, २७६
आलम ४४, ४६, १३४, १५९, २८१
उमरखय्याम २१९, २२२, २६८
उसमान १०७, १४४
'एक भारतीय आत्मा', माखनलाल चतुर्वेदी १९९, २०१
कनकामर मुनि २५
कण्हपा, सिद्ध १९
कबीर ४, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६, ६७, ६९, ७१, ७३, ७८, १३२, २३७, २८०, २८६
कर्ज़न, लार्ड १७१
कल्लोल कवि २५
कविरत्न, सत्यनारायण १७६, १७७, १७९, १९४
कालिदास २८०
क़ासिमशाह १४४, १४५, १४६
क़ुतबन ४७, ५६, ५८, १०७, १४४
कुशललाभ ४६
कृपाराम १०८

केशवदास १०८
ख्वाजा अहमद १९६
गुंडरिपा, सिद्ध १९
गजपुरी, मन्नन द्विवेदी २८४
गणपति, नरसा पुत्र ३३, ४४
गर्ग ६०
गांधी, महात्मा १७२, २०६, २९०
गुप्त मैथिलीशरण १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८८, २०६
गुलाल साहब १३८, १३९
गोल्डस्मिथ १९५, १९६
घन आनंद १०८, १२२, १२३, १२४, १२६, १२७, १२८, १५९, २८१, २८६
चंदबरदायी ३३
चौहान, सुभद्राकुमारी २०७, २०९, २१०, २१२
जगन्नाथ, पंडितराज १५
जयदेव ३८
जानकवि १०७, १४४
जायसी ४७, ५०, ५१, ५२, ५४, ५५, ५६, ५८, १०७, १३४, १५०, १५१, १९७, २८०
जोशी, जगन्नाथ १७७, १७८, १७९
जैकब सूटर १५६
टैगोर, रवीन्द्रनाथ २३६
ठाकुर १०८, १२७, १२८, १२९, १३०, १५९, २८१
ठाकुर साहब, गोपालशरण सिंह २१२, २१४
डारविन १५४
त्रिपाठी, रामनरेश २१५, २४५
तुलसीदास ११, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १६७, १६८, २८०
तोमर, रामसिंह १७
दादूदयाल ७३, ७४, ७५, ७६, ७८
दिनकर, रामधारी सिंह २०३, २०४, २०५, २२४, २२५
द्विवेदी, महावीर प्रसाद १७१, १७२

द्विवेदी, सोहनलाल २०५, २०६, २२५, २७५
दुखहरन १४४
देव १०८, ११३, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १५९
धनपाल २५
धरनीदास १४३, १४६
नंददास ८१, ८९, १४३, १५९, १६५, १९४
नरोत्तमदास ९९, १००
नवीन, बालकृष्ण शर्मा २०१, २०२, २६२, २६५
नसीर १४६, १९६
नागरीदास १३५, १३६, २८१
नानकदेव, गुरु ७१, ७३
नामदेव ६१, ६२, ६३, ६४
नारद, देवर्षि १, ६०
निकोलसन ७
निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४८, २५५, २६२
निसार १४४, १४५, १४६
नूर मुहम्मद १४४, १४६, १४८, १४९, १५०, १५१
पंत, सुमित्रानंदन २४०, २४२, २४३, २४६, २४७, २४८, २५५, २६५, २९१
पद्माकर १०८, ११५, ११६, ११७
परमानंददास ८२
प्रसाद, जयशंकरप्रसाद २२८, २२९, २३१, २३३, २३४, २३६, २४४, २४८, २८३
पाठक, श्रीधर १७३, १७४, १७९, १९५, १९६
पुष्पदंत २५
पेमी १५२
प्रेमघन, बदरीनारायण १६६, १६७, १६८
प्रेमी, हरिकृष्ण २६८
पूर्ण, देवीप्रसाद १७७, १७९
फ़रीद, शेख ७३, १५१
फिट्सजेरल्ड २१९

फ्रायड, सिगमंड १५५
बच्चन, हरवंश राय २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २६८, २६९
बाबालाल १३६, १३७
बिहारीलाल १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११७
बोधा १०८, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १५९, २८१
भक्त, गुरुभक्त सिंह २१५, २१६
भट्ट, उदयशंकर २७४
भरत मुनि १४
भीखा साहब १३९
भीषमजी ७३
मंझन ४७, ५६, ५८, १०७, १४४
मतिराम १०८, ११२
मयंक, लक्ष्मण सिंह २१५
मिश्र, प्रतापनारायण १६६
मिश्र, बलभद्र १०८
मुइनुद्दीन चिश्ती ३६
मुल्ला दाउद ३६, ४६
मुहम्मद, हजरत ३६
मीराबाई ९३, ९४, ९५, ९६, २८१, २८६
यारी साहब १३७, १३८
रत्नाकर, जगन्नाथदास १८४, १९०, १९१, १९२, १९३
रसखान ९६, ९७, ९८, ९९, १२१, १२२, १३३, १५९, १६२, २८१
रहीम, शेख १९६, १९७
रामचरण १४१, १४२
रामतीर्थ १९६
रामदास ७३
रूप गोस्वामी १५
रैदास ६९
वर्मा, भगवतीचरण २६३, २६८, २६९
वर्मा, महादेवी २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५४, २५५
वर्मा, रामकुमार २५४, २५५, २५९
व्यास ६०

विद्यापति ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ५४, ५५, १५३, २७३, २८१
शंकराचार्य ३५
शबरपा, सिद्ध १९
शर्मा, अनूप २१६
शर्मा, नरेन्द्र २६४, २६६, २६८, २७३
शाण्डिल्य ३७, ६०
सनेही, त्रिशूल, गयाप्रसाद शुक्ल १७४, १७६, १७९
स्वयंभू कवि २३, २४, २५
सिंगाजी ७३
सिंह, आरसी प्रसाद २२३
सिंह, शमशेर २७८
सुजान १२२, २८६
सुभान १३०
सूरदास ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९५, १५९, १९१, १९४, २७३, २८०
सोमप्रभ सूरि २३
हरनारायण १०८, १३४
हल्लाज, सूफ़ी ७
हरिऔध १८४, १८६, १८८
हरिदास निरंजनी ७७
हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु १५९, १६०, १६१, १६३, १६५ १६६, १६९, १७०, २०९, २८२
हित हरिवंश ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
हेमचन्द्र, आचार्य २२
हैवलाक एलिस २, ३